जनमेजय का नाग-यज्ञ

जयशङ्कर 'प्रसाद'

ग्रन्थ संख्या—३८

प्रकाशक
भारती भण्डार

द्वितीय संस्करण
सं०, ९१
मूल्य १)

मुद्रक तथा विक्रेता—
पं० कृष्णाराम मेहता
लीडर प्रेस, प्रयाग

प्राक्कथन

इस नाटक की कथा का सम्बन्ध एक बहुत प्राचीन स्मरणीय घटना से है। भारतवर्ष मे यह एक प्राचीन परम्परा थी कि किसी क्षत्रिय राजा के द्वारा कोई ब्रह्महत्या या भयानक जनक्षय होने पर उसे अश्वमेध यज्ञ करके पवित्र होना पड़ता था। रावण को मारने पर श्री रामचन्द्र ने तथा और भी कई बड़े बड़े सम्राटों ने इस यज्ञ का अनुष्ठान करके पुण्य लाभ किया था। कलियुग के प्रारम्भ में पाण्डवो के बाद परीक्षित के पुत्र जनमेजय एक स्मरणीय शासक हो गए हैं। भारत के शान्ति पर्व अध्याय १५० में लिखा हुआ मिलता है कि सम्राट् जनमेजय से अकस्मात् एक ब्रह्महत्या हो गई, जिस पर उन्हे प्रायश्चित्त स्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण १३-५-४-१ से पता चलता है कि इन्द्रोत देवाप शौनक उस अश्वमेध में आचार्य्य थे और जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ इन्हीं ने कराया था। महाभारत में भी इन्हीं आचार्य का उल्लेख है। इस अश्वमेध यज्ञ मे कुछ ऐसे विघ्न उपस्थित हुए, जिनके कारण जनमेजय को शौनक से कहना पड़ा—

अद्य प्रभृति देवेन्द्र मजितेन्द्रियमस्थिमम्।
क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यन्तीति शौनकः॥

दौर्बल्यं भवतामेतत् यदयंधर्षितः क्रतुः ।
विषयेमेन वस्तव्यं गच्छध्वं सहबान्धवैः ॥

(हरिवंश ; भविष्य पर्व ; अ० ५.)

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के तीसरे प्रकरण मे लिखा है—

कोपाज्जन्मेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः ।

क्षत्रिय सम्राट् जनमेजय ने अपने राज-दण्ड के बल से एक प्राचीन प्रथा बहुत दिनो के लिये बन्द कर दी। इसमे काश्यप पुरोहित का भी बहुत कुछ हाथ था। इसका प्रमाण भी मिलता है। आस्तीक पर्व के पचासवें अध्याय से इस घटना का एक सूत्र मिलता है कि काश्यप यदि चाहते, तो परीक्षित को तक्षक न मार सकता; और जनमेजय को एक लकड़िहारे की साक्षी से इसका प्रमाण दिलाया गया था। ऐतरेय ब्राह्मण ७-२७ मे इसी घटना का इस प्रकार उल्लेख है कि जब परीक्षित जनमेजय ने यज्ञ करना चाहा, तब काश्यप पुरोहितो को छोड़ दिया। इस पर असिताङ्गिरस काश्यप ने बड़ा आन्दोलन किया कि हम्ही पुरोहित बनाए जायँ। सम्भवतः इसी कारण तुर कावषेय ऋषि ने जनमेजय का ऐन्द्र महाभिषेक कराया था (देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ८—२१)। इन प्रमाणों के देखने से यह विदित होता है कि अर्थ-लोलुप काश्यप ने इस यज्ञ मे विघ्न डाला, और खाण्डव दाह से निर्वासित नागो का विद्रोह आरम्भ हुआ, जिसमे काश्यप का भी छिपा हुआ हाथ होना असम्भव नहीं। कुल बातो को मिलाकर

देखने से यही विदित होता है कि जनमेजय के विरुद्ध एक भारी षडयन्त्र चल रहा था।

आदि पर्व के पौष्य पर्व अ० ३ से विदित होता है कि जब जनमेजय पर कृत्या और विपत्ति आई, तब उन्होंने नाग कन्या से उत्पन्न सोमश्रवा को बड़ी प्रार्थना से अपना पुरोहित बनाया और आसन्न नाग-विद्रोह तथा भीतरी षडूयन्त्रों से बचने के लिये उन्हे अत्यन्त प्रयत्नशील होना पड़ा। नागो ने ब्राह्मणो से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था; और इसी कारण वे बलवान होकर अपने गए हुए राज्य का पुनरुद्धार करना चाहते थे। नाग जाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहले सरस्वती के तट पर रहती थी। (आदि पर्व; १४०) भरत जाति के क्षत्रियो ने उन्हे वहाँ से खाण्डव बन की ओर हटाया। खाण्डव में भी वे अर्जुन के कारण न रहने पाए। खाण्डव-दाह के समय में नाग जाति के नेता तक्षक निकल भागे। महाभारत युद्ध के बाद उन्मत्त परीक्षित ने शृङ्गी ऋषि ब्राह्मण का अपमान किया, और तक्षक ने काश्यप आदि से मिल कर आर्य सम्राट परीक्षित का हत्या की। उन्हीं के पुत्र जनमेजय के राज्य प्रारम्भ काल में आर्य जाति के भक्त उत्तङ्क ने इन बाह्य और आभ्यन्तर कुचक्रो का दमन करने के लिये जनमेजय को उत्तेजित किया। आर्य युवकों के अत्यन्त उत्साह से अनेक आभ्यन्तर विरोध रहते हुए भा नवीन साम्राज्य की रक्षा की गई। श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित नवीन महाभारत साम्राज्य की पुनर्योजना जनमेजय के प्रचण्ड विक्रम और दृढ़

शासन से हुई थी। सदैव से लड़ने वाली इन दो जातियो में मेल मिलाप हुआ, जिससे हजारों वर्षों तक आर्य साम्राज्य मे भारतीय प्रजा फूलती फलती रही। बस इन्ही घटनाओं के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है।

इस नाटक के पात्रों में कल्पित केवल चार पाँच हैं। पुरुषो मे माणावक और त्रिविक्रम तथा स्त्रियो में दामिनी और शीला आदि। जहाँ तक हो सका है, इसके आख्यान भाग मे भारत काल को ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, और इन कल्पित चार पात्रो से मूल घटनाओं का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है। इनमे से वास्तव मे दो एक का तो केवल नाम ही कल्पित है; जैसे वेद की पत्नी दामिनी। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत-इतिहास में बहुत कुछ अस्तित्व है।

कुकुरी सरमा भी जनमेजय की प्रधान शत्रु थी, जिसके पुत्र को जनमेजय के भाइयों ने पीटा था। महाभारत और पुराणो के देखने से विदित होता है कि यादवों की कुकुर नाम की एक शाखा थी। सम्भवतः सरमा उन्हीं यादवियों मे से थी जो दस्युओं द्वारा अर्जुन के सामने हरण की गई थी। तात्पर्य यह कि इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओ की परम्परा ठीक करने मे नाटकीय स्वतंत्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है; परन्तु उतनी से अधिक नहीं, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती है।

लेखक।

नाटक के पात्र

पुरुष

जनमेजय—इन्द्रप्रस्थ का सम्राट्

तक्षक—नागों का राजा

वासुकि—नाग सरदार

काश्यप—पौरवों का पुरोहित

वेद—कुलपति

उत्तङ्क—वेद का शिष्य

आस्तीक—मनसा और जरत्कारु का पुत्र

सोमश्रवा—उग्रश्रवा का पुत्र और जनमेजय का नया पुरोहित

च्यवन—महर्षि कुलपति

वेदव्यास—कृष्ण द्वैपायन

त्रिविक्रम—वेद का दूसरा विद्यार्थी

माणवक— सरमा और वासुकि का पुत्र

जरत्कारु—ऋषि, मनसा का पति

चण्डभार्गव—जनमेजय का सेनापति

तुर कावषेय—जनमेजय का ऐन्द्र-महाभिषेक कराने वाला

अश्वसेन—तक्षक का पुत्र

भद्रक—जनमेजय का शिकारी

शौनक—एक प्रधान ऋषि और ब्राह्मणों का नेता

दौवारिक, सैनिक, नाग, दास आदि ।

स्त्रियाँ

वपुष्टमा—जनमेजय की रानी

मनसा—जरत्कारु की स्त्री और वासुकि की बहन

सरमा—कुकुर वंश की यादवी

मणिमाला—तक्षक की कन्या

दामिनी—वेद की पत्नी

शीला—सोमश्रवा की पत्नी

दासियाँ और परिचारिकाएँ आदि।

जनमेजय का नाग-यज्ञ

पहला अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—कानन

[मनसा और सरमा]

सरमा—बहन मनसा, मैं तो आज तुम्हारी बात सुनकर चकित हो गई !

मनसा—क्यों ? क्या तुमने यही समझ रक्खा था कि नाग जाति सदैव से इसी गिरी अवस्था में है ? क्या इस विश्व के रंग-मंच पर नागों ने कोई स्पृहणीय अभिनय नहीं किया ? क्या उनका अतीत भी उनके वर्तमान की भाँति अन्धकार-पूर्ण था ? सरमा, ऐसा न समझो। आर्यों के सदृश उनका भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी एक संस्कृति थी।

सरमा—जब मैंने प्रभास के विप्लव के बाद अर्जुन के साथ आते हुए नागराज वासुकि को आत्म-समर्पण किया था, तब भी इस साहसी और वीर जाति पर मेरी श्रद्धा थी। श्रीकृष्ण की उस अपूर्व प्रतिभा ने मेरी नस नस में मनुष्य मात्र के प्रति एक अविचल प्रीति और स्वतन्त्रता भर दी थी। शूद्र गोप से लेकर ब्राह्मण तक की समता और प्राणी मात्र के प्रति समदर्शी होने की अमोघ वाणी उनके मुख से कई बार सुनी थी। वही मेरे उस आत्म-समर्पण का कारण हुई।

मनसा—क्या कहूँ, जिसकी तू इतनी प्रशंसा कर रही है, उसी ने इस जाति का अधःपात किया है। और नहीं तो क्या प्रबल नाग जाति वीर्य या शौर्य में आर्यों से कम थी? जब नागों ने आभीरों के साथ मिलकर यादवियों का हरण किया था, तब धनञ्जय की वीरता भी विचलित हो गई थी!

सरमा—(बिगड़कर) बहन, वह प्रसंग न छेड़ो! उसे रहने दो! वह आर्यों के लिये लज्जाजनक अवश्य है, किन्तु उनकी वीरता पर कलङ्क नहीं है। क्या मैं ही तुम्हारे भाई पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से नहीं चली आई? क्या और भी अनेक यादवियाँ अपने चरित्र-पतन की पराकाष्ठा दिखला कर उन आक्रमण-कारियों के साथ नहीं चली गईं? उसमें कुछ नागों की वीरता न थी। जिनकी रक्षा करनी थी, स्वयं वे ही जब लुटेरों को आत्म-समर्पण कर रही थीं, तब अर्जुन की वीरता क्या करती?

मनसा—जब उनमें कोई बात ही न थी, तब फिर वे क्यों आईं?

सरमा—मनसा, मैं व्यंग्य सुनने नहीं आई हूँ! श्रीकृष्ण ने पददलितों की जिस स्वतन्त्रता और उन्नति का उपदेश दिया था, वह आसुरी भावों से भरकर उद्दाम वासना में परिणत हो गई। धर्म-संस्थापक ने जातीय पतन का वह भीषण आन्तरिक संग्राम भी अपनी आँखों देखा; किन्तु इस औद्धत्य को रुकते न देखकर उन्हें प्रकृति के चक्र में पिस जाने दिया। यदि वे चाहते, तो यादवों का नाश न होता। किन्तु हाँ, उसका परिणाम अन्य जातियों के लिये भयानक होता। और, मनसा, यह समझ रखना कि कुक्कुर वंश

के यादवों को यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ और अकर्मण्यता की मूर्त्ति होकर नहीं आई है। इस वक्षस्थल मे अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है।

मनसा—हाँ सरमा, मुझ मे भी ओजपूर्ण नाग-रक्त है। इस मस्तिष्क में अभी तक राजेश्वरी होने की कल्पना खुमारी की तरह भरी हुई है। वह अतीत का इतिहास याद करो, जब सरस्वती का जल पीकर स्वस्थ और पुष्ट नाग जाति कुरुक्षेत्र की सुंदर भूमि का स्वामित्व करती थी! जब भारत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें हटने को विवश किया, तब वे खाण्डव-वन में अपना उपनिवेश बना कर रहने लगे थे। उस समय तुम्हारे कृष्ण ने साम्य और विश्व-मैत्री का जो मन्त्र पढ़ा था, क्या उसे तुम सुनोगी? और जो नृशंसता आर्यों ने की थी, उसे आँखो से देखोगी? लो, देखो मेरा मन्त्रबल, प्रदीप की गाढ़ी नीलिमा में अपनी आँखें गड़ा दो। सावधान!

[कुछ पढ़ती हुई क्षितिज की ओर अपना दाहिना हाथ फैलाती है; और उसके तमिस्र पटल पर खाण्डव की सीमा प्रकट होती है। अर्जुन और श्रीकृष्ण आते है।]

अर्जुन—भयानक जन्तुओ से पूर्ण यह खाण्डव वन देकर उन लोगो ने हमे अच्छा मूर्ख बनाया! क्या हम लोग भी जंगली है जो वृक्षो के पत्ते पहन कर इन भयानक जन्तुओं के साथ इसी मे निवास करेंगे? सखे कृष्ण! यह कपटपूर्ण व्यवहार असह्य है।

श्रीकृष्ण—अर्जुन! इस पृथ्वी पर कही कहीं अब तक मनुष्यों

और पशुओं मे भेद नहीं है। मनुष्य इसी लिए है कि वे पशु को भी मनुष्य बनावें। तात्पर्य यह कि सारी सृष्टि एक प्रेम की धारा मे बहे और अनन्त जीवन लाभ करे।

अर्जुन—किन्तु यह विषमता-पूर्ण विश्व क्या कभी एक-सा होगा? क्या जड़-चेतन, सुख-दुःख, दिन-रात, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्व कभी एक होगे? क्या इनकी समता होगी? मनुष्य यदि चेष्टा भी करे, तो क्या होगा?

श्रीकृष्ण—सखे! सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है। फिर ऐसी निराशा क्यो? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है। उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है; आलोक का अदर्शन ही अन्धकार है। ये विपत्ती द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है? कदापि नहीं।

अर्जुन—पर यदि कोई दुःख, रात्रि, जड़ता और पाप आदि को ही सत्ता माने, और अन्धकार को ही निश्चय जाने, तो?

श्रीकृष्ण—तो फिर जीव दुःख के भँवर में भी आनन्द की उत्कट अभिलाषा क्यो करता है? रात्रि के अन्धकार मे दीपक क्यों जलाता है? क्या यह वास्तविकता की ओर उसका झुकाव नहीं है? वयस्य, जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हे लोग जड़ कहते हैं। किन्तु देखो जिन्हे हम जड़ कहते हैं, वे जब किसी विशेष मात्रा मे मिलते है, तब उनमे एक शक्ति उत्पन्न होती है, स्पन्दन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते। वास्तव में

सर्वत्र शुद्ध चेतन है; जड़ता कहाँ ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। यदि तुम कहो कि इनका तो नाश होता हैं, और चेतन की सदैव स्फूर्ति रहती है, तो यह भी भ्रम है। सत्ता कभी लुप्त भले ही हो जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। गृह का रूप न रहेगा तो ईंटें रहेंगी, जिनके मिलने पर गृह बने थे। वह रूप भी परिवर्तित हुआ, तो मिट्टी हुई, राख हुई, परमाणु हुए। उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती; और न उसका चेतनमय स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक 'अद्वैत' है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा ; मानवता की घोषणा करनी होगी; सबको अपनी समता में ले आना होगा।

अर्जुन—तो फिर यह बताओ कि यहाँ क्या करना होगा। तुम तो सखे, न जाने कैसी बातें करते हो, जो समझ ही मे नहीं आतीं; और समझने पर भी उनको व्यवहार में लाना बहुत ही दुरूह है। झाड़ियों में छिप कर दस्युता करनेवाली और गुंजान जङ्गलों मे पशुओं के समान दौड़ कर छिप जानेवाली इस नाग-जाति को हम किस रीति से अपनी प्रजा बनावें ? ये न तो सामने आकर लड़ते हैं और न अधीनता ही स्वीकृत करते है। अब तुम्हीं बताओ, हम क्या करें।

श्रीकृष्ण—पुरुषार्थ करो, जड़ता हटाओ। इस वन्य प्रान्त मे मानवता का विकास करो जिसमे आनन्द फैले। सृष्टि को सफल बनाओ।

अर्जुन—फिर वही पहेली ! यह बताओ कि इस समय हम क्या करें ! क्या इन पेड़ो पर बैठकर इन्हे सिंहासन समझ लें ? क्या गीदड़ो और लोमड़ियो को अपनी प्रजा, तथा भयानक सिंहो को अपना शत्रु समझ कर उनसे सन्धि-विग्रह करें; और सदा इन नागो के छिपे आक्रमणो से क्षुब्ध रहे ?

श्रीकृष्ण—तब तो तुम्हारे जैसे सैकड़ो अर्जुन केवल इस खाण्डव का भी उद्धार न कर सकेंगे। अजी इसमें एक ओर से आग लगा दो ! अग्निदेव को वसा और मांस की आहुतिया से अजीर्ण हो गया है। उन्हे प्रकृत आहार की आवश्यकता है। श्वापद-संकुल जंगलो को सुन्दर जनपदो मे परिवर्तित कर देना उन्ही का काम है।

अर्जुन—अरे, यह क्या कह रहे हो ! अभी तो विश्व भर की एकता का प्रतिपादन कर रहे थे, और अभी यह अनाचार ! इतने प्राणियो की हिंसा, और इन जंगलियो का निर्वासन सिखाने लगे ! क्या यही विवेक है ?

श्रीकृष्ण—(हँसकर)—बलिहारी इस बुद्धि की ! अजी जो उन विपक्षी द्वन्द्वो के पोषक हैं, जो मिथ्या विश्वास के सहायक हैं, क्या उनको समझा कर, उनके साथ शिष्टाचार करके अपना प्रयत्न सफल कर सकते हो ? यदि उन्हे समता में ले आना है, तो जो जिस योग्य हों, उनसे वैसा ही संघर्ष करना पड़ेगा। जिनमे थोड़ी कसर है, वे हम से ईर्ष्या करके ही हमारे बराबर पहुँचेंगे। जो बहुत पिछड़े हुए हैं, उन्हे फटकारने से ही काम चलेगा। जो

हमारे विकास के विरोधी हैं और अपने को जड़ ही मानते हैं, उन्हे रूप बदलना ही पड़ेगा। दूसरा परिवर्तन ही उन्हे हमारे पास ले आवेगा। हमारी दृष्टि साम्य को है। भ्रम ने जिन्हे द्वेय बना रक्खा है, जिन्हे पद-दलित कर रक्खा है, जो अपने को जड़ता का अवतार मानते हैं, जो धार्मिक होने के बदले दस्यु होने में ही अपना गौरव समझते हैं, उन्हे तो स्वयं हमारा रूप धारण करना होगा। यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। इसमे कोई दोष नहीं। विश्व मात्र एक अखण्ड व्यापार है। उसमे किसी का व्यक्ति-गत स्वार्थ नहीं है। परमात्मा के इस कार्य-मय शरीर में किस अङ्ग का बढ़ा हुआ और निरर्थक अंश लेकर कौन-सो कमी पूरी करनी चाहिए, यह सब लोग नहीं जानते। इसी से निजत्व और परकीयत्व के दुःख का अनुभव होता है। विश्व मात्र को एक रूप में देखने से यह सब सरल हो जाता है। तुम इसे धर्म और भगवान् का कार्य्य समझ कर करो, तुम 'मुक्त' हो। बस अर्जुन, इस विषम व्यापार को सम करो। दुर्वृत्त प्राणियो का हटाया जाना ही अच्छे विचारो की रक्षा है। आत्मसत्ता के प्रतारक सकुचित भावों को भस्म करो! लगा दो इसमें आग!

[अर्जुन खाण्डव-दाह करता है। बड़ा हल्ला मचता है। प्राणियों की बड़ी संख्या भस्म होती है। नाग लोग चिल्लाकर भागते है।]

श्रीकृष्ण—सखे, सावधान! इसे बुझाने का प्रयत्न करने वाले भी अपने आप को न बचा सकेंगे।

[दोनों धनुष सँभालते और बाण चलाते हैं। पूर्व-परिवर्तित दृश्य अदृश्य हो जाता है।]

मनसा—देखा यादवी ! कैसी विलक्षणता है ! यह बनावटी परोपकार, और ये विश्व के ठेकेदार ! ओह ! इन्हीं की तुम प्रशंसा करती हो, जिनके अत्याचार से निरीह नागो का निर्वासन हुआ, और दुर्गम हिमावृत चोटियों के मार्ग से कष्ट सहते हुए उन्हे इस गान्धार देश की सीमा में आना पड़ा ! देखो, अपने आर्यों की यह समता ! फिर यदि नागो ने आभीरो से मिलकर यादवियो का अपहरण किया, तो क्या बुरा किया ? यदि नागराज तक्षक ने शृंगी ऋषि से मिलकर परीक्षित का संहार किया, तो क्या अनिष्ट किया ? इस विश्व में बुराई भी अपना अस्तित्व चाहती है। मैंने नाग जाति के कल्याण के लिये अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया है। केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर मैंने अपने ऊपर यह अत्याचार किया है !

सरमा—और मैंने विश्व-मैत्री तथा साम्य को आदर्श बनाकर नाग-परिणय का यह अपमान सहन किया है ! मायाविनी, यह कैसा कुहक दिखाया ! ओह ! अभी तक सिर घूम रहा है !

मनसा—बिलकुल इन्द्रजाल है ! यादवी, यह विद्या हम नागों की पैतृक सम्पत्ति है।

सरमा—किन्तु यह जानकर भी तुमने उलटी ही बात सोची ! आश्चर्य है ! मनसा, तुम्हारा कलुषित हृदय कैसे शुद्ध होगा ?

मनसा—आर्यों को इसका प्रतिफल देकर। उन्हें इस हृदय

की प्रतिहिंसा भोगनी पड़ेगी। अब पाण्डवो की वह गरमागरमी नही रही। यह नाग जाति फिर एक बार चेष्टा करेगी; परिणाम चाहे जो हो।

सरमा—अभागिनी नागिन! श्रीकृष्ण के इस महत् उद्देश्य का तू उलटा अर्थ लगाती है! जो प्राकृतिक नियमों को सामने रखकर सब की शुभ कामना रखता था, उसे अपवाद लगाती है! भला तेरा और तेरी जाति का उद्धार कैसे होगा? अपना सुधार न कर के तू दूसरों के दोष ही देखेगी। जो वास्तव मे तेरी ही परिस्थिति बदल कर तेरी उन्नति करने की चेष्टा करता है, उसे संकीर्णता से अपना शत्रु समझती है! हा, मैं कैसे भ्रम में थी! विषम को सम करना चाहती थी, जो मेरी सामर्थ्य के बाहर था। स्नेह से मै सर्प को अपनाना चाहती थी; किन्तु उसने अपनी कुटिलता न छोड़ी। बस, अब यह जातीय अपमान मैं सहन नही कर सकती। मनसा मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गई। मै अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदय-हीन उद्दंड बर्बरो का सिहासन भी पैरो से ठुकरा दूँगी।

[सवेग प्रस्थान]

मनसा—जा न, मेरा क्या बिगड़ता है!

[वासुकि का प्रवेश]

वासुकि—बहन, यह तुमने क्या किया! क्या सरमा को इस तरह उत्तेजित करके उसे चले जाने देना अच्छा हुआ?

मनसा—तो जाओ, उसे मना लाओ !

वासुकि—हमें साहस नहीं होता। बहन, तुमने अपने रूखे व्यवहार से जरत्कारु को भी यहाँ न रहने दिया। हम लोग आर्यों से मेल करने की जो चेष्टा कर रहे हैं, उस पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा ?

मनसा—कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह तुम जानो। मुझे क्या ? जरत्कारु गए, तो क्या हुआ; मेरा नाम भी तो तुम लोगों ने जरत्कारु ही रख दिया है। क्या अब कोई दूसरा नाम बदलोगे ?

वासुकि—बहन, व्यंग्य न बोलो। तुम्हारी इच्छा से ही ब्याह हुआ था; किसी ने कुछ दबाव डालकर नहीं किया था। नागों के उपकार के लिये तुम ने स्वयं ही—

मनसा—बस बस ! कायरों की संख्या न बढ़ाओ। नागों के विश्व-विश्रुत कुल में तुम्हारे सदृश निर्जीव व्यक्ति भी उत्पन्न होंगे, ऐसी सम्भावना न थी ! रमणियों के आँचल में मुँह छिपाकर आर्यों के समान वीर्यशाली जाति पर बाण बरसाना चाहते हो ! अब मुझ से यह सहन न होगा ! मैं यह पाखंड नहीं देख सकती ! खाण्डव की ज्वाला के समान जल उठो ! चाहे उसमें आर्य भस्म हों, और चाहे तुम। इस नीच अभिनय की आवश्यकता नहीं।

[सवेग प्रस्थान]

दामिनी—व्यर्थ इतनी त्वरा क्यों? और भी तो छात्र हैं। कोई कर लेगा। ठहरो।

उत्तङ्क—किन्तु गुरु-देव की आज्ञा है; मुझी पर यह सारा भार है। नहीं तो वे अप्रसन्न होंगे।

दामिनी—मै उन्हे समझा लूँगी; तुम्हे इसकी चिन्ता क्या है। और, फिर, जो दूसरो की परवा नहीं करते, उनके लिये दूसरे क्यों अपना सिर मारे।

उत्तङ्क—यह बात तो मेरी समझ में नहीं आई।

दामिनी—तुम्हे तो वैसी शिक्षा ही नहीं मिली है। तुम क्यो इसे समझने लगे।

उत्तङ्क—जैसा आप समझें। गुरुजी तो कह रहे थे कि अब की आने पर तुम्हें छुट्टी दे देंगे; तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो चुका। किन्तु—

दामिनी—तुम तो कुछ समझते ही नहीं!

उत्तङ्क—किन्तु मैं दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ अपने सहपाठियो से भी विशेष शीघ्र समझता था; और गुरुजी की भी यही धारणा है।

दामिनी—अच्छा बताओ, तुम फूल क्यो चुनते हो?

उत्तङ्क—मुझे भले लगते हैं।

दामिनी—तब तो तुम मानते हो कि जिसे जो भला लगे, उसे वह स्वायत्त करे; क्यों?

उत्तङ्क—ठहरिए! इस प्रतिज्ञा मे कोई आपत्ति तो नहीं है?

दामिनी—तुम्हारा सिर होता है !

उत्तङ्क—हैं-हैं, आप रुष्ट क्यों होती हैं ?

दामिनी—नहीं उत्तङ्क, भला मैं तुमसे रुष्ट हो सकती हूँ ! वाह, यह भी अच्छी कही। अच्छा लो, तुम इन्हीं फूलों की एक माला बनाओ; और तब तक मैं कुछ गाऊँ।

उत्तङ्क—जो आज्ञा।

[माला बनाने लगता है]

दामिनी—(गाती है)

अनिल भी रहा लगाए घात।
मैं बैठी द्रुम-दल समेट कर, रही छिपाए गात।
खोल कर्णिका के कपाट वह निधड़क आया प्रात।
बरजोरी रस छीन ले गया, करके मीठी बात। अनिल०।

(उत्तङ्क को देखती हुई) तुम्हारी माला—!

उत्तङ्क—वाह ! आप गा चुकी ? इधर मेरी माला भी बन गई; देखिए।

दामिनी—(माला देखती हुई) हाँ जी, तुम तो इस विद्या मे सिद्ध-हस्त हो ; किन्तु इसे मुझे पहना दो। नहीं नहीं, मेरे जूड़े में लगा दो। मुझसे नहीं लगेगा।

उत्तङ्क—यह तो मुझे भी नही आता।

[दामिनी उसका हाथ पकड़कर बताती है। उत्तङ्क जूड़े में माला लगाता है।]

उत्तङ्क—अब ठीक लगी; अब यह नही गिरने की। ऐं ! आप का शरीर न जाने क्यो काँप रहा है।

भूल दिखलाई पड़ेगी, और न उत्तङ्क को घर जाने के लिये घबराहट ही होगी ! वत्स उत्तङ्क ! तुम पर मैं अन्तःकरण से प्रसन्न हूँ। तुम्हारे शील ने विद्या को और भी अलंकृत कर दिया है। अब तुम घर जा सकते हो। यद्यपि अभी मुझे इन्द्रप्रस्थ जाना पड़ेगा, पर तो भी मैं उसका कोई न कोई प्रबन्ध कर लूँगा। जनमेजय का अभिषेक होने वाला है। वह तक्षशिला विजय करके आया है। किन्तु काश्यप इसके विरुद्ध है। जब बुलावा आवेगा, तब जाने का प्रबन्ध करूँगा।

उत्तङ्क—क्यों गुरुदेव ! काश्यप तो जनमेजय का पुरोहित है। फिर वह इसके विरुद्ध क्यों है ?

वेद—राजकुल पर विशेष आतङ्क जमाने के लिये प्रायः वह विरोधी बन जाया करता है; और फिर पूरी दक्षिणा पा जाने पर प्रसन्न होता है। पर राजकुल भी उससे आन्तरिक द्वेष रखता है।

उत्तङ्क—अच्छा तो देव, गुरुदक्षिणा के सम्बन्ध में क्या आज्ञा होती है ?

वेद—सौम्य, मै तुमसे इसी तरह प्रसन्न हूँ। दक्षिणा की कोई आवश्यकता नहीं।

उत्तङ्क—बिना दक्षिणा दिए विद्या सफल नहीं होती। कुछ तो आज्ञा कीजिए।

वेद—अच्छा, तो तुम अपनी इस सतृष्ण गुरुपत्नी से ही पूछ देखो।

उत्तङ्क—आर्ये, क्या आज्ञा है ?

तीसरा दृश्य

स्थान इन्द्रप्रस्थ में जनमेजय की राजसभा

[जनमेजय, तुर और सभासदगण]

जनमेजय—भगवन्! फिर भी कोई सीमा होनी चाहिए। राजपद का इतना अपमान!

तुर—राजन्! वसुन्धरा के समान चक्रवर्ती का हृदय भी उदार और सहनशील होना चाहिए। उसे व्यक्तिगत मानापमान पर ध्यान न देना चाहिए। और ब्राह्मणों को तो सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए; क्योंकि ये ही सन्तुष्ट रहने पर राष्ट्र का हितचिन्तन करते हैं। इसीलिये इनका इतना सम्मान है।

जनमेजय—किन्तु आर्य, मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं की, जिससे पुरोधा अप्रसन्न हों। और उन्हें तो राष्ट्र के उत्कर्ष से प्रसन्न होना चाहिए था, न कि उलटे वे मुझे मना करते कि तुम अभी तक्षशिला पर चढ़ाई न करो।

तुर—उन्होंने इसी मे तुम्हारा कुछ हित विचारा होगा। सम्भव है, उनकी समझ की भूल हो; या तुम्हीं इसको न समझ सके हो।

जनमेजय—आर्य, अभी मैं उस प्रदेश को विजय किए चला आ रहा हूँ। आपको नहीं मालूम, वे वन्य जातियाँ किस तरह सभ्य और सुखी प्रजा को तङ्ग किया करती थीं। कन्याओं का

अपहरण किया जाता था; धनी लूटे जाते थे; व्यवसाय का मार्ग बन्द हो गया था। सीमा प्रान्त की दस्यु जातियों की उच्छृंखलता बढ़ती जा रही थी। भला यदि मैं उनको दण्ड न देता, तो और क्या उपाय था ?

तुर—यदि ऐसा ही था, तो तुम्हारी युद्धयात्रा आवश्यक थी। यही राजधर्म था। अस्तु, तुम्हारा यह ऐन्द्रमहाभिषेक तो हमने करा दिया, और वह सम्पन्न भी हुआ; किन्तु तुम्हें अपने पुरोहित काश्यप से क्षमा माँगनी चाहिए; और इसकी सारी दक्षिणा उन्हीं को दी जानी चाहिए। मैं इसी में प्रसन्न हूँगा।

जनमेजय—भगवान् की जैसी आज्ञा। कोई जाकर आचार्य को बुला लावे, और दक्षिणा भी प्रस्तुत हो।

[प्रतिहारी जाता है]

तुर—राजन्! मार्मिकता से प्रजा की पुकार सुनना। युद्ध-यात्राएँ अब तुम्हें विजय देंगी। इस अभिषेक का यही फल है। किन्तु राजन्, विजयों का व्यवसाय न चलाना, नहीं तो उसमें घाटा भी उठाना पड़ता है। सृष्टि की उन्नति के लिये ही राष्ट्र हैं। बल का प्रयोग वहीं करना चाहिए जहाँ उन्नति में बाधा हो। केवल मद से उस बल का दुरुपयोग न होना चाहिए। तुम्हारी राजपरिषद् ने भारत के साम्राज्य का, तुम्हारी किशोरावस्था में, बड़े नियमित रूप से सुशासन किया है। यौवन और प्रभुत्व के दर्प में आकर काम न बिगाड़ बैठना।

प्रतिहारी—(प्रवेश करके) महाराज की जय हो। आचार्य आ रहे हैं।

[काश्यप पुरोहित का बकते-झकते प्रवेश]

काश्यप—यह क्या! इसका लकड़दादा कवप एक दासी का पुत्र था, इसीलिये ऋषियों ने भोजन के समय उसे अपनी पंक्ति से निकाल दिया था। उसी का वंशधर तुर-फुर! भला यह क्या जाने कि अभिषेक किसे कहते हैं! दासी-पुत्र के वंशधर के किए अभिषेक से तुम सम्राट् हो जाओगे! ऐ! देखोगे इसका परिणाम, भोगोगे इसका फल! मैं कौरवों का प्राचीन पुरोहित; वंशपरंपरा से मेरा अधिकार; राजकुल का दैव; उसीका इतना अपमान!

तुर—ऋषिवर्य, क्षमा हो। राष्ट्र के कामों को रोक देना भी तो उचित नहीं था। भला सोचिए कि वहाँ तो ब्राह्मण-कन्याएँ दस्युओं से अपहृत हो रही हों, और यहाँ आप इन्हें तक्षशिला-विजय से रोकें! क्या वे आपके ही स्वजन नहीं? क्या वे इस राज्य में नहीं रहते? क्या उनकी रक्षा का भार इन्द्रप्रस्थ के सम्राट् पर नहीं है?

काश्यप—मैं कौरवों का कर्मकाण्ड कराते-कराते बुड्ढा हो गया; किन्तु तुम्हारे समान लफङ्गा इस राज-सभा में आज तक न देखा। क्या राजतन्त्र जो चाहे, वही करता जाय; और अध्यात्म के गुरु ब्राह्मण उसी की हाँ में हाँ मिलाते जायँ? यदि ऐसा ही था, तो ब्राह्मणों को दण्ड देने का अधिकार भी राजा को क्यों न

मिला ? नियन्त्रित राष्ट्र के नियमन का अधिकार ब्राह्मणों को है। इन बातों को तुम क्या जानो! वह तो जिसको पैत्रिक सम्पत्ति हो, वही जानेगा। तुम क्या जानो!

तुर—द्विजवर्य! जब राजा अपनी प्रजा का, अपने राष्ट्र का वैभव बढ़ा रहा हो, तब उसका आदर करना भी उसकी प्रजा का धर्म है।

काश्यप—और अपने अग्नि-सेवक, पुरोहित, पाप के पञ्चमांश के भोक्ता, गुरुसमान ब्राह्मण की अवज्ञा का प्रायश्चित कौन करेगा? तुम? राष्ट्र का भला हुआ, यह एक स्वतन्त्र धर्म है; और ब्राह्मण की अवज्ञा एक भिन्न पाप है। दोनों का परिणाम भिन्न है। हम लोग कर्मवादी हैं। फल दोनों का ही मिलेगा! अरे तुम क्या पढ़ आए हो। यहाँ इसी में यह दाढ़ी सफेद हुई है—यह दाढ़ी।

[दाढ़ी पर हाथ फेरता है]

जनमेजय—भगवन्, यह पौरव जनमेजय प्रणाम करता है। चाहे मुझसे और जो भूल हुई हो, किन्तु दक्षिणा मैंने किसी को नहीं दी। वह आप ही के लिये रक्खी है।

[अनुचरगण दक्षिणा की थाली लाते हैं]

काश्यप—(थाली लेकर) आशीर्वाद! कल्याण हो! क्यों न हो, हैं तो आप पौरवकुल के। फिर क्यों न ऐसी महत्ता रहे।

तुर—(हँस कर) तो क्यों महात्मन्, मुझे कुछ भी न मिलेगा? मैंने आपके यजमान के सब कृत्य कराए; और दक्षिणा—

काश्यप—तुम लोगे ? अच्छे आए ! अरे अभी जो अशुद्ध कृत्य तुमने कराया होगा, उसका प्रायश्चित्त कराना पड़ेगा। उसमें जो व्यय होगा वह कौन देगा ? बोलो, ऐं !

तुर—तो फिर मै यों ही चला जाऊँ ?

काश्यप—तो क्या यही बैठे रहोगे ? अरे अभी सम्राट् युवक हैं; तुम लोगो की बातों में आ जाते हैं। किन्तु फिर भी ..

तुर—तो फिर मैं जाता हूँ। आप दोनो, यजमान और पुरोहित, मिल बरते।

काश्यप—राजाधिराज, तुर कावषेय जाना चाहते हैं; इन्हे प्रणाम करो।

[सब प्रणाम करते हैं। तुर हँसते हुए जाते हैं। काश्यप बैठता है।]

[वपुष्टमा का प्रवेश]

वपुष्टमा—आर्य काश्यप को मैं प्रणाम करती हूँ।

[सिंहासन पर बैठती है]

काश्यप—कल्याण हो, सौभाग्य बढ़े, वीर प्रसविनी हो।

जनमेजय—देवि, तुम्हारे आ जाने से यह राजसभा द्विगुणित शोभायुक्त हुई। आर्य तुर ने दक्षिणा नही ली; वे यो ही चले गए।

वपुष्टमा—क्यो आर्यपुत्र, आपने ऐसा क्यो होने दिया ?

मन्त्री—सम्राज्ञी, वे तपस्वो हैं, महात्मा हैं, त्यागी है। उन्होने कहा—हम राष्ट्र की शीतल छाया मे रहते हैं, इसलिये हमारा

कर्तव्य था कि प्रजा हितैषी विजयी राजा का ऐन्द्रमहाभिषेक करें। और दक्षिणा के अधिकारी तो आपके पुरोहित काश्यप हैं ही।

काश्यप—यह बात तो उसने पद्धति के अनुसार ही की है।

वपुष्टमा—(हँसकर) किन्तु आर्य काश्यप, आपको तो उन्हे सन्तुष्ट करना चाहिए था। आप ही कुछ दे देते।

काश्यप—सम्राज्ञो, अभी आपसे तो कुछ दक्षिणा मिली ही नहीं। वह मिलने पर फिर तुर कावषेय को देने का विचार करूँगा!

वपुष्टमा—तब भी विचार!

काश्यप—और क्या! हम लोग बिना विचार किए कोई काम करते हैं? यदि पद्धति वैसी आज्ञा न दे, यदि वह विहित न हो! तो फिर पाप का भागी कौन होगा? दूना प्रायश्चित कौन करेगा?

मन्त्री—(हँसते हुए) यथार्थ है।

काश्यप—हाँ, सूत्रों को यथावत् पद्धति के अनुसार! बस!

वपुष्टमा—आर्यपुत्र, अन्तःपुर की सहेलियाँ बड़ा आग्रह करती हैं। वे कहती है, आज तो बड़े आनन्द का दिवस है, हम लोग राजाधिराज को अपना कौशल दिखा कर पुरस्कार लेगी।

जनमेजय—किन्तु देवि, यह परिषद्गृह है।

काश्यप—नहीं सम्राट्, यह भी उसी का अङ्ग है। अभिषेक के बाद नाच-रङ्ग होना पद्धति के अनुसार ही है; विधि विहित है।

जनमेजय—देवि, अब रङ्ग-मन्दिर में चल कर नृत्य देखूँगा। यहाँ बैठे विलम्ब भी हुआ।

दौवारिक—(प्रवेश करके) जय हो देव ! एक स्नातक ब्रह्मचारी राज-दर्शन की इच्छा से आए हैं।

जनमेजय—लिवा लाओ।

[दौवारिक जाता है; और उत्तङ्क को लेकर आता है।]

उत्तङ्क—राजाधिराज की जय हो !

जनमेजय—ब्रह्मचारिन्, नमस्कार करता हूँ। कहिए, आप किस कार्य के लिये पधारे हैं ?

उत्तङ्क—राजाधिराज, मैं आर्य वेद का अन्तेवासी हूँ। मेरी शिक्षा समाप्त हो गई है; किन्तु अभी तक गुरुदक्षिणा नहीं दे सका हूँ। इसीलिये आपके पास प्रार्थी होकर आया हूँ।

काश्यप—अरे कुछ कहो भी, किस लिये आए हो ? जैसा गुरु है, वैसे ही तुम भी हो। न बोलने की पद्धति, न विधि-विहित शिष्टाचार। क्या वेद ने तुम्हें यही पढ़ाया है ?

उत्तङ्क—आप वृद्ध हैं, पूजनीय हैं, क्या मेरे उपाध्याय को कटु वाक्य कह कर मेरी गुरुभक्ति की परीक्षा लेना चाहते हैं ? या मुझे अपना शिष्टाचार सिखाना चाहते हैं ?

जनमेजय—ब्रह्मचारी जी, क्षमा कीजिए ! आप आर्य वेद के गुरुकुल से आए हैं ? अहा ! मैंने भी वही शिक्षा पाई है। आर्य सकुशल तो हैं ?

उत्तङ्क—सम्राट्, सब कुशल है।

जनमेजय—गुरुकुल अच्छी तरह चल रहा है ? कोई कमी

तो नहीं है ? अब तो गुरुवर बहुत वृद्ध हो गए होंगे ! महावट वृक्ष वैसा ही हरा भरा है ?

काश्यप—अभी तो कुछ ही वर्ष हुए, अग्निहोत्र के लिये उन्होंने फिर पाणिग्रहण किया है।

जनमेजय—(ब्रह्मचारी से) क्या आर्य काश्यप सच कहते हैं ?

उत्तङ्क—सच है राजाधिराज। उन्हीं अपनी गुरुपत्नी के लिये मुझे महादेवी के कानों के मणिकुण्डल चाहिए। मुझ से यही गुरुदक्षिणा माँगी गई है।

जनमेजय—(कुछ देर चुप रहकर) मेरा तो कुण्डलों पर कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मैं यह विजयोपहार महादेवी को अर्पण कर चुका हूँ।

काश्यप—तपोवन के गुरुकुल मे ये मणिकुण्डल पहन कर तुम्हारी गुरुपत्नी क्या करेंगी ?

उत्तङ्क—और यह भी कोई शिष्टाचार है कि पुरोहित राजधर्म मे बाधा डालें—दानशील राजा के मन मे शङ्का उत्पन्न करें ? महादेवी, मै आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मणिकुण्डल दान कर मुझे गुरु ऋण से मुक्त कीजिए।

वपुष्टमा—(कुण्डल उतार कर देती हुई) लीजिए ब्रह्मचारी जी। किन्तु इन्हें बड़ी सावधानी से ले जाइएगा।

उत्तङ्क—अचल सौभाग्य हो। राज्यश्री अविचल रहे !

जनमेजय—ये तक्षक के अमूल्य मणिकुण्डल हैं। वह इनकी ताक मे है। इन्हे सुरक्षित रखिएगा।

उत्तङ्क—जो आज्ञा।

[जाता है]

काश्यप—अरे ऐसे अमूल्य रत्न भी इस तरह अज्ञात ब्रह्मचारी को दान करने चाहिए? राजकोष में फिर क्या रह जायगा!

जनमेजय—किन्तु वह ब्रह्मचारी बड़ा सरल दिखाई देता था।

काश्यप—ऐसे बहुतेरे ठग आते हैं।

वपुष्टमा—आर्य, ऐसा न कहिए।

[सरमा का प्रवेश]

सरमा—दुहाई है! दुहाई है! न्याय कीजिए; सम्राट्, दुहाई है!

जनमेजय—क्या है? किस बात का न्याय चाहती हो?

सरमा—मेरे पुत्र को आपके भाइयो ने अकारण पीटा है। वह कुतूहल से यज्ञशाला मे चला गया था। वे लोग कहते है कि उसने घी का पात्र जूठा कर दिया।

काश्यप—अवश्य ही वह चोरी मे घी खाने घुसा होगा।

वपुष्टमा—आर्यपुत्र! न्याय कीजिए! नारी का अश्रुजल अपनी एक एक बूँद मे बड़िया लिए रहता है।

जनमेजय—तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्यो यहाँ आई हो?

सरमा—मै यादवी हूँ। मैंने अपनी इच्छा से नाग परिणय किया था, पर उनको कुटिलता न सह सकी। कारण यह कि वे दिन रात आर्यों से अपना प्रतिशोध लेने की चिन्ता मे रहते थे।

यह मुझसे सहन न हो सका ; इसीलिए मैं उनका राज्य छोड़कर चली आई।

वपुष्टमा—छीः ! आर्य ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया ! तभी तो यह लान्छना भोगनी पड़ती है।

सरमा—सम्राज्ञी ! मैं तो एक मनुष्य जाति देखती हूँ—न दस्यु और न आर्य ! न्याय की सर्वत्र पूजा चाहती हूँ—चाहे वह राजमन्दिर में हो, या दरिद्रकुटीर में। सम्राट्, न्याय कीजिए।

जनमेजय—दस्यु महिला के लिये कोई आर्य न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जायगा। तुम ने व्यर्थ इतना प्रयास किया।

सरमा—सम्राट्, मनुष्यता की मर्यादा भी क्या सब के लिये भिन्न भिन्न है ? क्या आर्यों के लिये अपराध भी धर्म हो जायगा ?

जनमेजय—चुप रहो ! पतिता स्त्रियो को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है।

सरमा—किन्तु पतिता का अपराध करने का आर्यों को अधिकार है ? राजाधिराज, अधिकार का मद न पान कीजिए ! न्याय कीजिए।

जनमेजय—असभ्यों मे मनुष्यता कहाँ ! उनके साथ तो वैसा ही व्यवहार होना चाहिए। जाओ सरमा ! तुमको लज्जित होना चाहिये।

सरमा—इतनी घृणा ! ऐश्वर्य का इतना घमण्ड ! प्रभुत्व और अधिकार का इतना अपव्यय ! मनुष्यता इसे नही सहन करेगी। सम्राट् ! सावधान !

चौथा दृश्य

स्थान—पथ

[सरमा और माणवक]

माणवक—इतना अपमान ! माँ, यह असह्य है !

सरमा—हाँ बेटा ! धिक्कारो, इस अभागिनी को मर्मवेधी शब्दों से और भी आहत करो ! तुम्हारे अपमान का कारण मैं ही हूँ।

माणवक—माँ ! इन दम्भियों मे कौन सी विशेष मनुष्यता है जो तुम अपना राज्य छोड़कर इनसे तिरस्कृत होने के लिए चली आई हो ? अपना अपना ही है। दारिद्र्य की विकट ताड़ना से एक टुकड़े के लिये दूसरों की ठोकर सहना ! ओह—

सरमा—बस करो बेटा !

माणवक—नहीं माँ, बड़ी भूख लग रही है। पेट की ज्वाला ही बड़वाग्नि है, जो कभी नहीं बुझती। उसे सब लोग नहीं अनुभव कर सकते। जो उत्तम पदार्थों की थाली पैर से ठुकरा देते हैं, जिन्हे अरुचि की डकार सदा आती रहती है, वे इसे क्या जानेंगे ! माँ, इसी के लिये ऐसे कर्म हो जाते हैं जिन्हे लोग अपराध कहते हैं।

सरमा—बेटा, तुम इस अभागिनी की और भी भर्त्सना करोगे ? क्षमा करो मेरे लाल ; मैं इन्हें अपना सम्बन्धी समझ कर इनका आश्रय लेने चली आई थी। तुम मेरी अग्नि-परीक्षा न

करो। जिनको रसना की तृप्ति के लिये अनेक प्रकार के भोजनों की भरमार होती है, वे पेट की ज्वाला नहीं समझते। मैंने न्याय की प्रार्थना की, तो उन्होंने एक अपमान और जोड़ दिया। मैंने नाग परिणाय किया था। यह भी मुझ पर एक अपराध लगा! हे भगवन्! मेरे अभिमान का यह फल!

माणवक—फिर तुमने मुझे प्रतिशोध लेने से क्यों रोक दिया?

सरमा—हत्या! तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता था; पर यह कलङ्क मैं नहीं सह सकती थी। तू उनसे लड़कर वहीं मर जाता या उन्हे मार डालता, यह मुझे स्वीकार था। परन्तु—उसके लिये तू अभी बिलकुल बच्चा है।

माणवक—दुर्बलो के पास और उपाय ही क्या है? क्या तब मुझे शान्ति न मिलेगी जब तुम हस्तिनापुर के राजमन्दिर के वातायनों की ओर दीनता से ताकती रहोगी?

सरमा—नहीं बेटा! मैं इस अपमान का बदला लूँगी; किन्तु सहायता के लिये लौटकर नागकुल में न जाऊँगी।

माणवक—तब फिर प्रतिशोध कैसे सम्भव है? माँ, मेरे हृदय मे दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। घमण्डियों के वे वक्र विलोचन बरछी की तरह लग रहे हैं। माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथो का विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का ताण्डव किए विना मै न जी सकूँगा। मै आत्म-घात कर लूँगा!

[रोने लगता है]

सरमा—मैं जानती हूँ, मैं अनुभव कर रही हूँ। उस अपमान के विष का घूँट मेरे गले में अभी तक तीव्र वेदना उत्पन्न करता हुआ धीरे धीरे उलट रहा है। पर माणवक! मेरे प्यारे बच्चे! पहले तो तूने मातृ स्नेह के वश होकर अपने पिता के वैभव का तिरस्कार किया। पर अब क्या मनसा से सहायता माँग कर मुझे उसके सामने फिर लज्जित करना चाहता है? यादवी प्राण के लिये नहीं डरती। (छुरी फेंककर) ले, पहले मेरा अन्त कर ले; फिर तू जहाँ चाहे, चला जा। (रोकर) हाय! वत्स तुझे नहीं मालूम कि तेरे ही अभिमान पर मैंने राज-वैभव ठुकरा दिया था। बेटा—!

माणवक—माँ, मत रोओ, क्षमा करो, मेरी भूल थी। मै पुत्र हूँ। अपने अपमान के प्रतिशोध के लिये तुम्हारा हृदय दुःखी नहीं करना चाहता। (पैरों पर गिरता है) माँ, मैं जाता हूँ। भाग्य में होगा, तो फिर तुम्हारे दर्शन करूँगा।

[प्रस्थान]

सरमा—ठहर जा; माणवक, ठहर जा। मेरी बात सुन ले। रूठ मत, मैं सब करूँगी। जो तू कहेगा, वही करूँगी। सुन ले! नहीं आया! चला गया! हाय रे जननी का हृदय! मैं सब ओर से गई। अन्धकारपूर्ण, शून्य हृदय! इसमें सैकड़ो बिजलियो से भी प्रकाश न होगा।

माणवक—माणवक!

[उसके पीछे जाती है]

———

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—कानन

[तक्षक]

तक्षक—मै अपने शत्रुओ को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ। और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस छाती मे धधक उठती है! प्रतिहिंसे! तू बलि चाहती है, तो, ले, मै दूँगा! छल, प्रवञ्चना, कपट, अत्याचार, सब तेरे सहायक होगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्त-रञ्जित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन, शव-गन्ध-पूरित धूम से भरकर तेरी धूपदानी बनेगा। ठहरो देवी, ठहरो!

[खड्ग निकालता है]

[वासुकि का प्रवेश]

वासुकि—क्यो नागनाथ! क्या हो रहा है? किस पर क्रोध है?

तक्षक—प्रिय वासुकि, तुम आ गए? कहो, वह काश्यप ब्राह्मण आवेगा कि नहीं?

वासुकि—प्रभो! वह तो गहरी दक्षिणा पाकर फिर राजकुल से सन्तुष्ट हो गया है। किन्तु उसे एक बात का बड़ा खेद है। वह रानी के मणिकुण्डल दूसरे ब्राह्मण को मिलना सहन नहीं कर

सकता। इसी से आशा है कि वह फिर आपसे मिलेगा। सरमा भी अपनी करनी का फल पा रही है। वह अत्यन्त अपमानित की गई है। सम्भव है, वह फिर नाग कुल मे लौट आवे।

तक्षक—मणिकुण्डल। कौन, वे ही, जो कभी हम नागो की अमूल्य सम्पत्ति थे! हाय! वासुकि, वे फिर कहाँ मिलेंगे! किन्तु यदि वे मिल जाते, तो काश्यप को देकर उसे अपनी ओर मिला लेता। राजकुल का पूरा समाचार काश्यप ही से मिल सकता है।

काश्यप—(प्रवेश करके) नागनाथ की जय हो!

तक्षक—प्रणाम करता हूँ ब्राह्मण देवता। कुशल तो है?

काश्यप—आर्य, क्षत्रियों को घमण्ड हो गया है। उनके सविनय प्रणाम मे भी एक तीखा तिरस्कार भरा रहता है। ब्राह्मणों का सम्मान वे सहन नहीं कर सकते। वे राजमद से इतने मत्त हैं कि अध्यात्म गुरु की अवहेला क्या, कभी कभी परिहास तक कर बैठते हैं—उनके क्रोध को हँसी मे उड़ा देते हैं। यह बात इस विशुद्ध ऋषि-कुल-सम्भूत शरीर को सहन नहीं है। (ठहर कर) नागराज, अभी तक क्षत्रिय स्पष्ट रूप से ब्राह्मणो के नेतृत्व का विरोध नहीं कर सके है। अभी वे प्राचीन संस्कार के वशीभूत है।

तक्षक—तो फिर क्या आज्ञा है?

काश्यप—घबराओ मत। अभी ब्राह्मणो मे वह बल है, तप का वह तेज है कि वे नाग जाति को क्षत्रिय बना लें। तुम लोगो को भी चाहिए कि जहाँ तक हो सके, आर्य जाति की इन्द्रिय परायणता के सहायक बनो। उनमें अपने रक्त का मिश्रण करो।

समय आने पर तुम्हारे ही वंशधर इस भारत के अधिकारी होंगे। पर इसके लिये उद्योग करते रहो।

तक्षक—प्रभो, मणिकुण्डल कौन ब्राह्मण लाया है ?

काश्यप—(नेपथ्य की ओर देखकर) लो, वह आ रहा है। हम लोग छिप जाते हैं।

[वासुकि का हाथ पकड़कर जाता है]

[उत्तङ्क का प्रवेश]

तक्षक—ब्रह्मचारिन, नमस्कार करता हूँ।

उत्तङ्क—कल्याण हो ! मैं थक गया हूँ। यदि यहाँ विश्राम करूँ, तो आप असन्तुष्ट तो न होंगे ? क्या आप इस कानन के स्वामी हैं ?

तक्षक—अब तो नहीं हूँ; पर हाँ कभी था। आप बैठिए।

[उत्तङ्क बैठता है ; फिर थककर सो जाता है]

[काश्यप का प्रवेश]

तक्षक—क्यों काश्यप, इसने मणिकुण्डल कहाँ रक्खे होंगे ?

काश्यप—अपने उष्णीष में। मै हट जाता हूँ। तुम्हे देखकर मुझे डर लग रहा है। तुम इतने भयानक क्यों दिखाई देते हो ?

तक्षक—महात्मन्, आप जब अपना धर्म करने लगते हैं, जब यज्ञ करने लगते हैं, तब आप भी मुझे इतने ही भयानक देख पड़ते है। जब पशुओं की कातर दृष्टि आपको प्रसन्न करती है, तब सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जी काँप उठता होगा।

काश्यप—अजी वह तो धर्म है, कर्त्तव्य है !

तक्षक—किन्तु हम असभ्य जंगली लोग धर्म को पवित्र, अपनी मानवी प्रवृत्ति से परे, एक उदार वस्तु मानते हैं। अपनी आवश्यकता को, अपनी लालसामयी दुर्बलता को उसमें नहीं मिलाते। उसे बालक की निर्मल हँसी के समान अछूती रहने देते हैं। पाप को पाप ही कहते हैं, उस पर धर्म का मिथ्या आवरण नहीं चढ़ाते।

काश्यप—बस करो। नागराज, अभी तुमको यह भी नहीं मालूम कि पाप और पुण्य किसे कहते हैं। इन सूक्ष्म तत्वों को समझना तुम्हारी मोटी बुद्धि और सामर्थ्य के बाहर है। जो तस्करता करना चाहते हो, वह करो। आर्यों को यह कला नहीं सिखलाई गई है।

[तक्षक छुरी निकालता है। काश्यप चिल्लाता है—'हैं हैं, ब्रह्म-हत्या न करो।' तक्षक उसे ढकेल कर उत्तङ्क का उष्णीष लेना चाहता है। उत्तङ्क जाग उठता है। तक्षक छुरी मारना चाहता है। सरमा दौडती हुई आती है और तक्षक का हाथ पकड लेती है। तक्षक उत्तङ्क को छोड़ कर उठ खडा होता है।]

सरमा—नृशंस तक्षक!

तक्षक—तुझे इस विश्वासघात का प्रतिफल मिलेगा। परिणाम भोगने के लिये प्रस्तुत हो जा। आज यह छुरी तेरा ही रक्त पान करेगी!

उत्तङ्क—पामर! तुझे लज्जा नहीं आती? सोए हुए व्यक्ति को मार डालना चाहता था; अब नारी की हत्या करना चाहता है!

तक्षक—अरे, तुझमे भी नागराज तक्षक को ललकारने का

साहस है ! देखूँ तो, अपने आपको या पापिनी सरमा को कैसे बचाता है !

[छुरी उठाता है].

उत्तङ्क—यदि मैं ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा, तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार नही कि वह सत्यशील ब्रह्म तेज पर हाथ चला सके ! पाखण्डी, तेरा पतन समीप है।

[तक्षक छुरा चलाना चाहता है। वासुकि आकर हाथ पकड़ लेता है।]

वासुकि—नागराज, क्षमा करो। यह मेरी स्त्री है।

तक्षक—वासुकि, तुम विद्रोह करनेवालो को दण्ड से बचाते हो !

वासुकि—फिर भी यह मेरी स्त्री है। नागराज ! सरमा और उत्तङ्क मुक्त है। वे जहाँ चाहे, जा सकते हैं।

सरमा—यह आर्य संसर्ग का ही प्रताप है। नागराज, आप मेरे पति हैं; किन्तु आप का मार्ग भिन्न है और मेरा भिन्न। फिर भी मेरा अनुरोध है कि जब अवसर मिले, इसी तरह मनुष्यता को व्यवहार में लाइएगा। अपने आपको सर्प की सन्तान मानकर कुटिलता और क्रूरता की ही उपासना मत कीजियेगा !

वासुकि—क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नही ? अब मैं तुम्हे न जाने दूँगा।

सरमा—आप को और सब अधिकार है, पर मेरी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का नही।

वासुकि—इसका अर्थ ?

सरमा—इसका अर्थ यही है कि मैं आप के साथ चलूँगी, पर अपमानित होने के लिये नहीं। आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी।

वासुकि—मैं प्रतिश्रुत होता हूँ।

सरमा—अच्छी बात है।

[सब जाते हैं]

———

छठा दृश्य

स्थान—गुरुकुल

[त्रिविक्रम और दो विद्यार्थी]

त्रिविक्रम—अरे चुप भी रहो! क्या टाँयँ टाँयँ कर रहे हो!

पह० विद्यार्थी—अरे भाई, अब दूसरी शाखा का अध्ययन आरम्भ करूँगा। यह अब समाप्त हो चली है। थोड़ा सा और परिश्रम है।

त्रिविक्रम—शाखा! किसकी शाखा?

पह० विद्यार्थी—वेद की।

त्रिविक्रम—वेद! चुप मूर्ख! गुरुजी क्या कोई वृक्ष हैं जो उनमे शाखाएँ होंगी?

पह० विद्यार्थी—भाई हँसी मत करो। मैं श्रुति के लिये कह रहा हूँ।

त्रिविक्रम—सो तो मै सुनता हूँ। अच्छा बताओ तो पढ़ कर करोगे क्या? इस शाखामृग का अनुकरण करने से क्या लाभ होगा?

पह० विद्यार्थी—विद्ययाऽमृतमश्नुते।

त्रिविक्रम०—अमृत होकर तुम क्या करोगे? कब तक इस दुरन्तपूरा उदर दरी को भरोगे? अनन्त काल तक यह महान् प्रयास! बड़ी कठोरता है!

दूस० विद्यार्थी—और तुम गुरुकुल में क्यों आए हो ? सब से तो पूछ रहे हो; पहले अपनी तो बताओ।

त्रिविक्रम—पहले तुम बताओ।

दूस० विद्यार्थी—प्रश्न मेरा है।

त्रिविक्रम—मैं तो इनसे पूछता था। तुम क्यों बीच में कूद पड़े ? अब पहले तुम्हीं बताओ।

दूस० विद्यार्थी—मैं तो पुरोहित बनूँगा।

त्रिविक्रम—उत्तम ! यजमान की थोड़ी सी सामग्री इतस्ततः करके, कुछ जला कर, कुछ जल मे फेंक कर, कुछ वितरण करके और बहुत-सी अपनी कमर मे रख कर एक संकल्प का जमा खरच सुना देना, और उसको विश्वास दिला देना कि अज्ञात प्रदेश मे तुम्हारी सब वस्तुएँ तुम्हे मिल जायँगी। अरे भाई ! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम बन्दर और बकरे को नचाने की विद्या सीख कर डमरू हाथ में लेकर घूमते।

पह० विद्यार्थी—तुम मूर्ख हो ! तुम्हारे मुँह कौन लगे !

दूस० विद्यार्थी—अच्छा तुम क्या करने आए हो ? और पढ़ कर क्या करोगे ?

त्रिविक्रम—मैं ! अपनी प्रकृति के अनुसार काम करूँगा, जिसमें आनन्द मिले। और केवल पुरोहिती करने के लिए जो तुम इतनी माथापच्ची कर रहे हो, वह व्यर्थ है। भला पुरोहिती म पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? जो मन्त्र हुआ, उच्च स्वर से अट्ट-सट्ट पढ़ते चले गए और दक्षिणा रखाते गए। बस हो चुका।

दूस० विद्यार्थी—अच्छा, हम अपना देख लेंगे। तुम तो बताओ कि कौन काम करोगे जिसमें बिना परिश्रम के लोक तुम्हारे अनुकूल रहे।

त्रिविक्रम—किसी श्रीमन्त के यहाँ विदूषक बनूँगा। आदर से आऊँगा जाऊँगा। कोई काम न धन्धा! मूर्खता से भी लोगों को हँसा लूँगा; निर्द्वन्द्व विचरण करते हुए जीवन व्यतीत करूँगा।

पह० विद्यार्थी—यह क्यों नहीं कहते कि निर्लज्ज बनूँगा!

त्रिविक्रम—अच्छा जाओ, अपना काम देखो। आज पुण्यक उत्सव है। गुरुजी की ओर से निमन्त्रण है।

[दोनों विद्यार्थियों का प्रस्थान। वेद का प्रवेश। उन्हें देख कर त्रिविक्रम ध्यानस्थ हो जाता है।]

वेद—बेटा त्रिविक्रम!

[त्रिविक्रम आँखें बन्द किए हुए उच्च स्वर से मन्त्र पढ़ने लगता है।]

वेद—अरे त्रिविक्रम!

[वेद को खाँसी आती है। त्रिविक्रम उछल कर खड़ा हो जाता है]

त्रिविक्रम—क्या है गुरू जी?

वेद—बेटा, अपनी गुरुआनी को समझाओ! आडम्बर फैला कर आप भी कष्ट भोगती है, मुझे भी दुःख देती है। समझे?

त्रिविक्रम—गुरुदेव! मेरी समझ मे तो कुछ आना असम्भव है। आपने इतना अध्ययन कराया, पर मेरी समझ में कुछ न आया?

वेद—(चौंक कर) मूर्ख! मेरा सब परिश्रम व्यर्थ ही गया?

त्रिविक्रम—परिश्रम तो व्यर्थ ही किया जाता है। तिस पर समझने के लिये परिश्रम करना तो सब से भारी मूर्खता है। हट चलिए; वह आ रही हैं।

[वेद और त्रिविक्रम का प्रस्थान। दामिनी का प्रवेश।]

दामिनी—उत्तङ्क नहीं आया। मेरी कामना के लक्ष्य! उत्तङ्क! पुण्यक के बहाने मैंने तुझे बुलाया है। एक वार और परीक्षा करूँगी।

[मणिकुण्डल लिए हुए उत्तङ्क का प्रवेश]

उत्तङ्क—आर्य्या, मैं उत्तङ्क प्रणाम करता हूँ।

दामिनी—कौन उत्तङ्क! तुम आ गए?

उत्तङ्क—हाँ देवि, मणिकुण्डल भी प्रस्तुत हैं!

दामिनी—उत्तङ्क! मुझे अपने हाथों से पहना दो।

उत्तङ्क—देवि, क्षमा हो; मुझे पहनाना नहीं आता।

दामिनी—उत्तङ्क! तुम मुझे छूने से हिचकते क्यों हो?

उत्तङ्क—नहीं देवि, मुझे गुरु ऋण से मुक्त करें; मैं जाऊँ!

दामिनी—तो चले ही जाओगे? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूँ कि—

उत्तङ्क—चुप रहो देवि! यदि ईश्वर का डर न हो, तो संसार से तो डरो। पृथ्वी के गर्भ में असंख्य ज्वालामुखी हैं, कदाचित् उनका विस्फोट ऐसे ही अवसरों पर हुआ होगा। तुम गुरु पत्नी हो, मेरी माता के तुल्य हो।

[सवेग प्रस्थान]

दामिनी—धिक्कार है मुझे!

[प्रस्थान]

सातवाँ दृश्य

स्थान—कानन

[धनुष पर बाण चढ़ाए हुए जनमेजय का प्रवेश।]

जनमेजय—कहाँ गया ? अभी तो इधर ही आया था !

[भद्रक का प्रवेश]

भद्रक—जय हो देव ! मृग अभी इधर नहीं आया; उधर ही गया।

जनमेजय—भद्रक, तुम बता सकते हो कि किस ओर गया ?

भद्रक—प्रभो, तनिक सावधान हो जाइए, अभी पता चल जाता है।

[दोनों चुपचाप देखते और सुनते हैं]

जनमेजय—(धीरे से) अजी देखो, वह उस झाड़ी में छिपा हुआ सा जान पड़ता है।

भद्रक—नहीं पृथ्वीनाथ, ऐसी जगह मृग नहीं छिपते।

जनमेजय—चुप रहो। निकल जायगा।

[बाण चलाता है। झाड़ी में क्रन्दन और धमाका।]

जनमेजय—यह क्या ?

भद्रक—क्षमा हो देव, मनुष्य का सा स्वर सुनाई देता है।

[दोनों झपटे हुए जाते हैं और घायल ऋषि को उठा लाते हैं।]

जनमेजय—अनर्थ हो गया ! हाय रे भाग्य ! आए थे मृगया खेल कर हृदय को बहलाने; यहाँ हो गया ब्रह्म-हत्या का महा-पातक ! तपोनिधे ! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा ? आप कौन हैं ? आपकी अन्तिम आज्ञा क्या है ?

ऋषि—तुम आर्यावर्त के सम्राट् हो। (ठहर कर) अच्छा, शान्त होकर सुनो। अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है। आह ! अब मै नहीं बच सकता। मैं यायावर वंश का जरत्कारु हूँ। ओह ! बड़ी वेदना है ! तुम लोग कोमल मृगो पर इतने तीखे बाण चलाते हो ! जनमेजय, मैं तुमको क्षमा करता हूँ। किन्तु कर्म फल तो स्वयं समीप आते हैं; उनसे भाग कर कोई बच नहीं सकता। मेरा पुत्र आस्तीक तुम्हारी समस्त ज्वालाओं को शान्त करेगा। स्मरण रखना, मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।—आह ! जल—

[भद्रक जाकर जल लाता है। जनमेजय जल पिलाता है।]

जनमेजय—तपोधन, मेरा हृदय मुझे धिक्कार की ज्वाला मे भस्म कर रहा है। मैं ब्रह्म हत्या का अपराधी हुआ हूँ ! भगवन्, क्षमा करें !

जरत्कारु—राजन् ! क्षमा !

[छटपटा कर मर जाता है]

जनमेजय—सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।

[यवनिका पतन]

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—तपोवन

[आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

मणिमाला—भाई ! आज तो बहुत विलम्ब हुआ ।

आस्तीक—हाँ मणि, आज विलम्ब तो हुआ । हम लोगों ने अपना पाठ समाप्त कर लिया है और पूजा के लिए फूल भी रख दिए है । चलो, उस झरने पर बैठ कर थोड़ा विश्राम करें ।

[दोनों आगे बढ़कर बैठते हैं]

मणिमाला—पिताजी को देखे बहुत दिन हुए । जी चाहता है, एक बार जाकर उनके दर्शन करूँ, और माँ की गोद में सिर रख कर रोऊँ ।

आस्तीक—पगली ! भला रोने की भी कोई कामना है ?

मणिमाला—हाँ भाई ! तुम लोगो के तो बड़े बड़े मनोरथ, बड़ी बड़ी अभिलाषाएँ होती हैं; किन्तु हम लोगो के कोमल प्राणों मे एक बड़ी करुणामयी मूर्च्छना होती है । संसार को उसी सुन्दर भाव मे डुबा दूँ, उसी का रङ्ग चढ़ा दूँ, यही मेरी परम कामना है । कभी कभी तो मुझे यह चिन्ता होती है कि ऐसे कोमल हृदय पर हाड़ मांस का यह आवरण क्यो है, जो दिन रात गर्व से फूला रहता है और हृदय को हृदय से मिलने नहीं देता !

आस्तीक—बहन, तुम न जाने कैसी और कहाँ की बातें करती हो। उन बातों का इस वर्तमान जीवन से भी कोई सम्बन्ध है या नहीं ?

मणिमाला—वे इसी लोक की बातें है। मुझसे तो मानो कोई कहता है कि महाशून्य मे विश्व इसीलिये बना था। यही उद्देश्य था कि वह एक निर्मल स्रोतस्वती की तरह नील वनराजि के बीच, यूथिका की छाया में वह चले, और उसकी मृदु वीचि से सुरभित पवन के परमाणु आकाश की शून्यता को परिपूर्ण करें।

आस्तीक—क्या तुम कोई स्वप्न सुना रही हो ?

मणिमाला—भाई, यह स्वप्न नहीं है, भविष्य की कल्पना भी नहीं है। जब सन्ध्या को अपने श्याम अङ्ग पर तपन रश्मियों का पीला अङ्गराग लगाए देखती हूँ और फिर उस सुनहले शून्य में बसन्त को किसी कोकिल को गाते हुए उड़ जाते देखती हूँ, तब हृदय मे जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे स्वयं मेरी समझ मे भी नहीं आते। किन्तु फिर भी जैसे कोई कहता हो कि उस सुदूरवर्ती शून्य क्षितिज के प्रत्यक्ष से उस कोकिल का कोई सम्बन्ध है।

आस्तीक—क्यों मणि, यह सब क्या है ? इसका कुछ तात्पर्य भी है, या केवल कुहुक है ? इन मांस पिंडो मे क्यों इतना आकर्षण है, और कहीं कहीं क्यों ठीक इसके विपरीत है ? जिसको स्नेह कहते हैं, जिसको प्रेम कहते हैं, जिसको वात्सल्य कहते हैं, वह क्यों कभी कभी चुम्बक के समान उसके साथ के लिये दौड़

पड़ता है, जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही ? और जहाँ उसका उद्भव है; वहाँ से क्यो कोई सम्पर्क नही ?

मणिमाला—मैं समझ गई ; भाई ! क्या वह बात मुझे नहीं खटकती ? बूआ को तुमसे कुछ स्नेह नही है । किन्तु भाई, हमारी अयोग्यता का, हमारे अपराध का, दण्ड देकर लोग हमे और भी दूर कर देते हैं । जिसके हम कोई नही हैं, वह तो अनजान के समान साधारण मनुष्यता का व्यवहार कर सकता है; किन्तु जिससे हमारी घनिष्ठता है, जिससे कुछ सम्पर्क है, वही हमसे घृणा करता है, हमारे प्रति द्वेष को अपने हृदय मे गोपनीय रत्न के समान छिपाए रहता है । भाई, इसी से कहती हूँ कि माँ की गोद में सिर रख कर रोने को जी चाहता है । मैं स्त्री हूँ, प्रकट में रो सकूँगी । किन्तु तुम लोग अभागे हो, तुमको खुलकर रोने का भी अधिकार नही । रोओगे तो तुम्हारे पुरुषत्व पर धक्का लगेगा । तुम रोना चाहते हो, किन्तु रो नहीं सकते; यह भारी कष्ट है । तुम्हारे पिता नहीं रहे ; उनकी हत्या हो गई ! और माँ ! (देखकर) नही नहीं, भाई क्षमा करो । मैने तुम्हे रुला दिया ; यह मेरा अपराध है ।

[आस्तीक के आँसू पोंछती है]

आस्तीक—नहीं मणि, मेरी भूल थी । रोना और हँसना ये ही तो मानवी सभ्यता के आधार है । आज मेरी समझ मे यह बात आ गई कि इन्ही के साधन मनुष्य को उन्नति के लक्षण कहे जाते है ।

[एक ओर से जनमेजय का प्रवेश । दोनों को देखकर जनमेजय आड़ में खड़ा हो जाता है ।]

जनमेजय—(स्वगत) मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर, और नियति का दास, या उस की क्रीड़ा का उपकरण ! फिर क्यों वह अपने आपको कुछ समझता है ? आज इस आश्रम के महर्षि से इसका रहस्य जानना चाहिए ! अहा ! कैसा पवित्र स्थान है ! और यह देवद्वन्द्व भी कैसा मनोहर है !

(नेपथ्य में सङ्गीत)

जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख पाता है ।
मानव, तूने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है ॥
आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्ववश तब कैसे था ।
महाशून्य के पट में पहला चित्रकार क्यों आता है ॥
शुद्ध नाद था बड़ा सुरीला, कोई विकृति न थी उसमें ।
कौन कल्पना करके उसमें मींड़ लगाकर गाता है ॥
कल्प कल्प की भाँति दुःख की क्षण भर का सुख भला लगा ।
असिधारा पर धरा हुआ सुख, उससे कैसा नाता है ॥
दुख ने क्या दुख दिया तुझे, कुछ इसका कभी विचार किया ।
चौंक उठा तू झूठे दुख पर, कुछ भी तुझे न आता है ॥
कारण, कर्म न भिन्न कहीं है, कर्म ! कर्म चेतनता है ।
खेल खेलने आया है तू, फिर क्यों रोने जाता है ॥
इस जीवन को भिन्न मानकर क्षण क्षण का विभाग करता ।
लीला से तू दुःखी बन गया, लीला से सुख पाता है ॥
तू स्वामी है, तू केवल है, स्वच्छ सदा तू निर्मल है ।
जो कुछ आवे, करता चल तू, कहीं न आता जाता है ॥

आस्तीक—बहन, माणवक लौट आया है। यह उसीका सा स्वर है। मैं जाऊँ, उससे मिल आऊँ। तुम तो अभी ठहरोगी न ?

मणिमाला—हाँ भाई, मैंने इस झरने का बहना अभी जी भर नहीं देखा। तुम चलो; मैं भी थोड़ा ठहर कर आती हूँ।

[आस्तीक का प्रस्थान]

जनमेजय—(प्रकट होकर) अहा ! कैसा रमणीक स्थान है ! (मानों अभी देख पाया है) अरे ! इस निर्जन वन में देवबाला सी आप कौन हैं ?

मणिमाला—मै नागकन्या हूँ। क्या आप आतिथ्य चाहते हैं ?

जनमेजय—शुभे ! क्या यहाँ कोई ऐसा स्थान है ?

मणिमाला—आर्य ! समीप ही मे महर्षि च्यवन का आश्रम है। मेरा भाई उन्हीं के गुरुकुल मे पढ़ता है। मैं भी थोड़े दिनों के लिये यहीं आ गई हूँ। ऋषि-पत्नी मुझे भी शिक्षा देती है।

जनमेजय—भद्रे, यदि तुम्हारा भी परिचय पा जाऊँ, तो मै विचार करूँ कि आतिथ्य ग्रहण कर सकता हूँ या नहीं।

मणिमाला—मै नागराज तक्षक की कन्या हूँ, और जरत्कारु ऋषि का पुत्र आस्तीक मेरा भाई है।

जनमेजय—यह कैसा रहस्य ! क्या कहा, जरत्कारु ?

मणिमाला—हाँ, यायावर जरत्कारु ने मेरी बूआ नाग कुमारी मनसा से ब्याह किया था।

जनमेजय—नाग कुमारी, मैं क्षमा चाहता हूँ। इस समय मैं

तुम्हारा आतिथ्य नहीं ग्रहण कर सकता, क्योंकि मुझे एक पुरोहित ढूंढना है। मैं पौरव जनमेजय हूँ।

मणिमाला—(सम्भ्रम से) स्वागत ! माननीय अतिथि, आपको इस गुरुकुल का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करना चाहिए। नहीं तो कुलपति सुनकर हम लोगों पर रुष्ट होंगे।

जनमेजय—उदारशीले, धन्यवाद ! इस समय मुझे आवश्यक कार्य है। फिर कभी आकर उनके दर्शन करूँगा।

मणिमाला—मैं समझ गई। आप मुझे शत्रु कन्या समझते हैं, इसीलिये—

जनमेजय—नहीं भद्रे, तुम्हारे इस सरल मुख पर तो शत्रुता का कोई चिह्न ही नहीं है। ऐसा पवित्र सौन्दर्य पूर्ण मुख मण्डल तो मैंने कहीं नहीं देखा।

मणिमाला—(लज्जित होकर) आप आर्य जाति के सम्राट् हैं न !

जनमेजय—किन्तु मैं तो तुम सी नाग कुमारी को प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।

[जाता है]

मणिमाला—(उधर देखती हुई) ऐसी उदारता व्यञ्जक मूर्ति, ऐसा तेजोमय मुख मण्डल ! यह तो शत्रुता करने की वस्तु नहीं है। (कुछ सोचकर) मैं ही भ्रम में हूँ। मैं जिसका सुन्दर व्यवहार देखती हूँ, उसी के साथ मेरा स्नेह हो जाता है। नहीं, नहीं, यह मेरी विश्व मैत्री का, उस सरमा यादवी की शिक्षा का फल है। किन्तु यहाँ तो अन्त:करण में एक तरह की गुदगुदी होने लग गई !

[गुनगुनाते हुए शीला का प्रवेश]

मणिमाला—आओ सखि ! मैं तो बड़ी देर से तुम्हारी राह देख रही हूँ । तुमको तो गाने से छुट्टी नहीं मिलती । मार्ग चलते हुए भी गाती रहती हो ।

शीला—सखि ! अपना वर ढूँढती फिरती हूँ ।

मणिमाला—अरे तुम्हारा तो ब्याह हो चुका है न ?

शीला—क्या तुम पागल हो गई हो ! अभी तो बात पक्की हुई थी ।

मणिमाला—हाँ, हाँ, सखि ! मैं भूल गई थी ।

शीला—और जब किसी से तुम्हारा ब्याह हो जाय, तब भी कभी कभी इसी तरह पति को भूल जाना ; दूसरा वर ढूँढने लगना ।

मणि०—चलो ! तुम भी बड़ी ठठोल हो । अरे क्या सोमश्रवा तुझे मनोनीत नहीं हैं ?

शीला—अब तो नहीं हैं ।

मणिमाला—क्यों, क्या इतने ही दिनों मे बदल गए ?

शीला—नहीं सखि । एक बड़ी भयानक बात हो गई है । भावी पति सोमश्रवा मुझ से ब्याह कर लेने पर पौरव सम्राट् जनमेजय के राज पुरोहित बनेंगे ।

मणिमाला—तब तो तुम्हे और भी प्रसन्न होना चाहिए ।

शीला—जो अपने को मनुष्यों से कुछ अधिक समझते हैं, उनसे मै बहुत डरती हूँ । राज सम्पर्क हो जाने से इसी हड्डी मांस

के मनुष्य अपने को किसी बड़े प्रयोजन की वस्तु समझने लगते हैं। उन्हें विश्वास हो जाता है कि हम किसी दूसरे जगत के हैं।

मणिमाला—किन्तु मैं तो समझती हूँ कि ऐसे तुच्छ विचार रखने वाले साधारण मनुष्यों से भी नीचे हैं।

शीला—सखि, तुम ऐसा सोच सकती हो; क्योंकि तुम भी नागराज की कन्या हो। किन्तु मैं तो साधारण विप्र कन्या हूँ।

मणिमाला—अहा! कैसी भोली है! क्या कहना!

शीला—(हँसकर) राजकुमारी, सुना है, आज उनके आश्रम में फिर सम्राट् जनमेजय आने वाले हैं।

मणिमाला—सखि, जब तुम सम्राट् की पुरोहितानी होगी, तब हम लोगों पर क्यों कृपा रक्खोगी!

शीला—और यदि कहीं तुम्हीं सम्राज्ञी हो जाओ, तब?

मणिमाला—(लज्जित होकर) चल पगली!

आस्तीक—(प्रवेश करके) महर्षि ने तुम लोगों को बुलाया है।

[सब जाते हैं]

———

दूसरा दृश्य

स्थान—पथ

[एक ओर से दामिनी और दूसरी ओर से माणवक का प्रवेश]

दामिनी—मै किधर आ निकली ! राह भूल गई हूँ ।

माणवक—आप कहाँ जाना चाहती है ?

दामिनी—मैं—मै—

माणवक—हाँ हाँ, आप कहाँ जायँगी ?

दामिनी—मैं बता नहीं सकती—मैं जानती ही नही ।

माणवक—शुभे ! संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं जो जाना तो चाहते हैं, परन्तु कहाँ जाना चाहते हैं, इसका उन्हे कुछ भी पता नही ।

दामिनी—पर क्या आप बतला सकते है ?

माणवक—(स्वगत) यह अच्छी रही ! बड़ी बिचित्र स्त्री मिली । समझ में नहीं आता कि यह कोई बनी हुई मायाविनी है या सचमुच कोई भूली भटकी है ।

दामिनी—आप बोलते क्यों नहीं ?

माणवक—मुझे अधिक बातें करने का अभ्यास नहीं । मैं यही नही जानता कि आप कहाँ जाना चाहती हैं ; तब कैसे और क्या बताऊँ ! मुझे—

दामिनी—आप कहाँ रहते हैं ?

माणवक—यह न पूछो। मै संसार को भूली हुई वस्तु हूँ। न मैं किसी को जानना चाहता हूँ और न कोई मुझे पहचानने की चेष्टा करता है। तुमने कभी शरद् के विस्तृत व्योम मण्डल मे रूई के पहल के समान एक छोटा सा मेघ-खण्ड देखा है? उसको देखते देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक वल्लरी की नन्ही सी पत्ती के छोर पर विदा होने वाली श्यामा रजनी के शोकपूर्ण अश्रु विन्दु के समान लटकते हुए एक हिमकण को कभी देखा है? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघ खण्ड या हिमकण की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कब तक रह सकूँगा?

दामिनी—आश्चर्य! तुम तो एक पहेली हो।

माणवक—मैं ही नही, यह समस्त विश्व भी एक पहेली है। हर्ष, द्वेष, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध—

दामिनी—क्या कहा?

माणवक—प्रतिशोध! क्या ये सब पहेली नहीं है?

दामिनी—हाँ हाँ, स्मरण आया—प्रतिशोध! मुझे प्रतिशोध लेना है।

माणवक—किससे? क्या उसे लेकर तुम रख सकोगी? वह जहाँ रहेगा, जलाया करेगा, डङ्क मारा करेगा और तड़पाया करेगा। उसे तुम सँभाल नही सकोगी। और जिसे तुम धारण नही कर सकती, उसे तुम लेकर क्या करोगी? छोड़ो, उसके

पीछे न पड़ो। देवि, इसी मे तुम्हारा कल्याण होगा। एक मै हो इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। चारो ओर मारा मारा फिर रहा हूँ।

दामिनी—क्या तुमको भी किसी से प्रतिशोध लेना है? वाह! तब तो हम और तुम एक पथ के पथिक है।

माणवक—क्षमा करो, मैं उस पथ मे बहुत ठोकरें खा चुका हूँ। अब उस पर चलने का साहस नही, बल नहीं। तुम जाओ; तुम्हारा मार्ग और है, मेरा और।

दामिनी—तब मुझको ही वहाँ पहुँचा दो।

माणवक—कहाँ?

दामिनी—(कुछ सोचकर) तक्षक के पास।

माणवक—(चौंककर) वहाँ! मै नही जा सकता। और तुम दुर्बल रमणी हो। लौट जाओ; दुस्साहस न करो।

दामिनी—नहीं, मुझे वहाँ जाना आवश्यक है। मेरे शत्रु का एक वही शत्रु है। अच्छा, और कहाँ जाऊँ, तुम्हीं बता दो।

माणवक—मैं-नही-(देखकर) लो, वे स्वयं इधर आ रहे हैं! मै जाता हूँ।

[माणवक का प्रस्थान। तक्षक का प्रवेश।]

तक्षक—सुन्दरी, इस बिजन पथ मे, इस बीहड स्थान में तुम क्यों आई हो?

दामिनी—क्या आप ही तक्षक हैं?

तक्षक—क्यों, कुछ काम है?

दामिनी—हाँ, पर पहले अपना नाम बतलाइए।

तक्षक—हाँ, मेरा ही नाम तक्षक है।

दामिनी—मैं प्रतिशोध लेना चाहती हूँ।

तक्षक—किससे ?

दामिनी—उत्तङ्क से, जिससे आप मणिकुण्डल लेना चाहते थे।

तक्षक—तुम कौन हो ?

दामिनी—मै चाहे कोई होऊँ। जो उत्तङ्क को मेरे अधिकार में कर देगा, उसे मैं मणिकुण्डल दूँगी।

तक्षक—ठहरो, तुम बड़ी शीघ्रता से बोल रही हो।

दामिनी—क्या विश्वास नहीं होता ?

तक्षक—होता है, पर वह काम इसी क्षण तो नहीं हो जायगा।

दामिनी—चेष्टा करो। शीघ्रता करो, नहीं तो तुम इस योग्य ही न रह जाओगे कि उसे पकड़ सको।

तक्षक—(हँस कर) क्यो ?

दामिनी—वह तुम से बदला लेने के लिये जनमेजय के यहाँ गया है। बहुत शीघ्र तुम उसके कुचक्र मे पड़ोगे।

तक्षक—इसका प्रमाण ? स्मरण रखना कि तक्षक से खेलना सहज नहीं है। (गम्भीर हो जाता है)

दामिनी—मैं अच्छी तरह जानती हूँ, तभी कहती हूँ।

तक्षक—अच्छा, तो मेरे यहाँ चलो। मै इसका शीघ्र प्रबन्ध करूँगा। तुम डरती तो नहीं हो।

दामिनी—नहीं। चलो, मैं चलती हूँ।

[दोनों जाते हैं]

तीसरा दृश्य

स्थान—प्रकोष्ठ

[जनमेजय और उत्तङ्क]

जनमेजय—आपकी यह बात तो मुझे जँच गई है, और मैं ऐसा ही करूँगा भी। किन्तु यह कुचक्र, भाषण रूप धारण कर रहा है।

उत्तङ्क—मैं सब सुन चुका हूँ; और जानता हूँ कि कुछ दुर्बुद्धियो ने यादवी सरमा, तक्षक तथा आपके पुरोहित काश्यप के साथ मिलकर एक षड्यन्त्र रचा है। किन्तु आपको इससे भयभीत न होना चाहिए।

जनमेजय—भगवन्, यह तो ठीक है; पर मुझसे अनजान मे जो ब्रह्महत्या हो गई, उससे मैं और भी खिन्न हूँ। काश्यप मुझ पर अभियोग लगाते है कि मैंने जान बूझ कर यह ब्रह्महत्या की। ब्राह्मण वर्ग और आरण्यक मण्डल भी इसमे कुछ असन्तुष्ट हो गया है। पौर, जानपद आदि सब लोगो मे यह आतङ्क फैलाया जा रहा है कि राजा यौवन मद से स्वेच्छाचारी हो गया है; वह किसी की बात नही सुनता। इधर जब मैं आपसे तक्षक द्वारा अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य सुनता हूँ, तो क्रोध से मेरी धमनियाँ बिजली की तरह तड़पने लगती हैं। किन्तु मैं क्या करूँ!

परिषद् भी अन्यमनस्क है, और कर्मचारी भी इस आतङ्क से कुछ डरे हुए हैं। वे बेमन का काम कर रहे हैं।

उत्तङ्क—लकड़िहारे से तो आप सुन ही चुके कि इसी काश्यप ने तक्षक से मिलकर राज-निधन कराया है। और यही लोलुप काश्यप फिर ऐसी कुमन्त्रणाओं मे लिप्त हो, तो क्या आश्चर्य।

जनमेजय—होगा; तो फिर मैं क्या करूँ?

उत्तङ्क—सम्राट् को किंकर्तव्य विमूढ़ होना शोभा नहीं देता। मनोबल सङ्कलित कीजिए; दृढ़ प्रतिज्ञ हृदय के सामने से सब विघ्न स्वय दूर हो जायँगे। सबल हाथो में दण्ड ग्रहण कीजिए। कोई दुराचारी क्यो न हो, दण्ड से मुक्त न रहे। सम्राट्! अपने पिता का प्रतिशोध लीजिए, जिसमे इस ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा भी पूरी हो। इन दुर्वृत्त नागो का दमन कीजिए।

जनमेजय—किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह कर्म करने मे स्वतन्त्र है?

उत्तङ्क—अपने कलङ्क के लिये रोने से क्या वह छूट जायगा? उसके बदले मे सुकर्म करने होंगे। सम्राट्! मनुष्य जब तक यह रहस्य नहीं जानता, तभी तक वह नियति का दास बना रहता है। यदि ब्रह्म हत्या पाप है, तो अश्वमेध उसका प्रायश्चित्त भी तो है। अपने तीनो वीर सहोदरो को तीन दिशाओ में विजयो-पहार ले आने के लिये भेजिए; और आप स्वयं इन नागो का दमन करने के लिये तक्षशिला की ओर प्रस्थान कीजिए। अश्वमेध के व्रती होइए। सम्राट्! जब तक मेरी क्रोधाग्नि में दुर्वृत्त नाग

जलकर भस्म न होंगे, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। बल मद से मत्त चाहे कोई शक्ति हो, ब्राह्मण की अवज्ञा करके उसका फल अवश्य भोगेगी। बतलाइए, आप नियति द्वारा आरोपित कलङ्क का प्रतिकार, अपने सुकर्मों से, नियामक बनकर करना चाहते हैं या नहीं? और मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी करना चाहते हैं या नहीं? अन्यथा मैं दूसरा यजमान ढूँढ़ूँ।

जनमेजय—आर्य उत्तङ्क! पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेध पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ होगा!

उत्तङ्क—सन्तुष्ट हुआ। सम्राट्! मेरा आशीर्वाद है कि जीवन की समस्त बाधाओं को हटाकर आपका शन्तिमय राज्य बढ़े। अब शीघ्रता कीजिए। मै जाता हूँ।

जनमेजय—मैं प्रस्तुत हूँ। आर्य!

[उत्तङ्क का प्रस्थान। वपुष्टमा का प्रवेश।]

वपुष्टमा—जब देखो, तब वही चिन्ता का स्वाँग! आर्यपुत्र क्यों चिन्ता मग्न हैं? किस समस्या में पड़े हैं?

जनमेजय—देवि! यह साम्राज्य तो एक बोझ हो गया है!

वपुष्टमा—तब फिर क्यों नहीं किसी दूसरे के सिर मढ़ते?

जनमेजय—यदि ऐसा कर सकता तो फिर बात ही क्या थी!

वपुष्टमा—तब यही कीजिए। जो सामने आवे, उसे करते चलिए!

जनमेजय—करूँगा। अब एक बार कर्म समुद्र में कूद पड़ूँगा;

फिर चाहे जो कुछ हो। आलस्य अब मुझे अकर्मण्य नहीं बना सकेगा। प्रिये, बहुत प्यास लगी है।

वपुष्टमा—कोई है ? प्रमदा !

प्रमदा—(प्रवेश करके) महादेवी की जय हो। क्या आज्ञा है ?

वपुष्टमा रत्नावली से कहो द्राक्षासव ले आवे।

[प्रस्थान]

वपुष्टमा—आर्यपुत्र ! आज रत्नावली का गान सुनिए।

जनमेजय—मेरी भी इच्छा थी कि आज आनन्द विनोद करूँ। फिर कल से तो नाग दमन और अश्वमेध होगा ही।

वपुष्टमा—क्या, नाग दमन और अश्वमेध ? जब देखो, तब युद्ध विग्रह। एक घड़ी विश्राम नहीं। पुरुष भी कैसे कठोर होते हैं !

जनमेजय—यही उनकी भाग्यलिपि है, अदृष्ट है। क्या वे विलास, प्रमोद और ललित कला के सुकुमार अङ्क में समय नहीं व्यतीत करना चाहते ? किन्तु क्या करें !

वपुष्टमा—और स्त्रियों के भाग्य में है कि अपनी अकर्मण्यता पर व्यग्य सुना करें।

[रोष करती है]

जनमेजय—प्रिये ! ऐसा स्वर क्यों ? स्नेह में इतनी रुखाई !

[स्नेहपूर्वक हाथ पकड़ता है]

[रत्नावली और प्रमदा का प्रवेश । नृत्य और गान]

मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की तान ।
सुखी कर साजन को सजनी, छबीली छोड़ हठीला मान ॥
प्रकृति की मदमाती यह चाल, देख ले दृग भर पी के सङ्ग ।
डाल दे गलबाँही का जाल, हृदय में भर ले प्रेम उमङ्ग ॥
कलित है कोमल किसलय कुञ्ज, सुरभि पूरित सरोज मकरन्द ।
खोल दे मुख-मण्डल सुख पुञ्ज, बोल दे बजे विपञ्ची-वृन्द ॥

मधुर माधव० ।

मणिमाला—अच्छा भाई! पिता जी को अब इस बात की सूचना नहीं होगी। किन्तु तुम! हाय! मेरा हृदय काँप उठता है। भाई, पुरुषोचित काम करो। अत्याचार से पीड़ितों की रक्षा करने में पौरुष का उपयोग करो। तुम वीरपुत्र हो।

अश्वसेन—अब और अधिक लज्जित न करो। मैं सबसे क्षमा प्रार्थी हूँ। लो, मैं अभी रण प्राङ्गण को चला।

[सवेग प्रस्थान]

दामिनी—अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं रहना चाहती। मणि, मैं जाऊँगी।

मणिमाला—अच्छा; (कुछ ठहर कर) दो चार दिन में चली जाना। अभी तो मैं आई हूँ।

[हाथ पकड कर ले जाती है]

———

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—कानन मे एक कुटीर

[तक्षक, वेद, काश्यप, सरमा और कुछ नाग तथा ब्राह्मण बैठे हैं]

तक्षक—मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूँ। पौरवों का नाश होने पर परिषद् की सत्ता आप लोगो के हाथ मे रहेगी, और हम लोग क्षत्रिय होकर आप लोगो के स्वाध्याय तथा शान्ति की रक्षा करेंगे। ब्राह्मणो पर हमारा कुछ भी नियंत्रण न रहेगा।

काश्यप—हाँ जी, यह तो ठीक ही है!

वेद—किन्तु शक्ति पा जाने पर तुम भी अत्याचारी न हो जाओगे, इसका क्या निश्चय है?

ब्राह्मण—सुनो जी, हम लोग आरण्यक, वानप्रस्थ, शान्त तपोधन ब्राह्मण हैं, अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिये एक शुद्ध राजसत्ता चाहते हैं। हमारा किसी से द्वेष नहीं है।

सरमा—अपने को अलग करके बचे हुओं पर यह दया दिखाई जाती है, किन्तु अपने को सर्वोच्च समझते हैं!

काश्यप—क्यो सरमा, क्या इसमे भी कोई सन्देह है?

सरमा—नही, आर्य काश्यप! इसमें क्या सन्देह है! आप और भी ऐसे ऐसे उत्तम काम करें, विप्लव करें; किन्तु आपके सर्वोच्च होने मे कौन सन्देह कर सकता है!

तक्षक—सरमा! क्या तुम भी ऐसा कहती हो? अपनी

हो अवस्था पर विचार कर देखो। जो राजतन्त्र न्याय का ऐसा उदाहरण दिखा सकता है, क्या वह बदलने योग्य नहीं है।

सरमा--फिर भी एक दस्यु दल को उसका स्थानापन्न बनाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। धर्म का ढोंग करके, एक निर्दोष आर्य सम्राट् को अपने चङ्गुल मे फँसा कर, उसके पतित होने की व्यवस्था देना, जिससे वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है? सो भी यहीं तक नहीं, उसके कुल भर को आर्य पद से इस प्रकार वञ्चित कर देने को कुमन्त्रणा कहाँ तक अच्छी होगी।

काश्यप--स्वेच्छाचारिणी! जो अनार्यों की दासी हो चुकी है, जो अपनी मर्यादा बिलकुल खो चुकी है, क्या वह भी ब्राह्मणों के कर्तव्य की आलोचना करेगी?

सरमा--तुमने राजसभा मे मुझे अपमानित किया था? आज फिर वही बात! ब्राह्मण! सहन की भी सीमा होती है। उस आत्म सम्मान की प्रवृत्ति को तुम्हारे बनाए हुए द्विज महत्ता के बन्धन नहीं रोक सकेंगे। मै यादवी हूँ, अपमान का बदला षड्यन्त्र करके नहीं लूँगी। यदि मेरे पुत्र की बाहुओ मे बल होगा, तो वह स्वय प्रतिशोध ले लेगा। मै तो अब जाती हूँ, परन्तु मेरी बात स्मरण रखना।

[वेग से जाती है]

काश्यप--नागराज, इसे अभी मार डालो! नहीं तो यह सारा भंडा फोड़ देगी!

[तक्षक दौड़कर उसे पकड़ लाता है। दूसरी ओर से मनसा का प्रवेश]

मनसा—नागराज, क्या करते हो! स्त्रियो पर यह अत्याचार! छोड़ो इसे! पहले अपनी रक्षा करो!

[तक्षक सरमा को छोड़ देता है]

तक्षक--क्या! अपनी रक्षा!

मनसा—हाँ, हाँ, अपनी रक्षा! जनमेजय की सेना फिर तक्षशिला मे पहुँच गई है। भाई वासुकि नाग सेना एकत्र करके यथाशक्ति उन्हे रोक रहे है। आर्यों का यह आक्रमण बड़ा भयानक है। वे तुम लोगों से भी बढ़कर बर्बरता दिखला रहे है। जो लोग बन्दी होते हैं, वे अग्निकुण्ड मे जला दिए जाते है। गाँव के गाँव दग्ध हो रहे है। नाग जाति बिना रक्षक की भेड़ो के समान भाग रही है। आर्यों की भीषण प्रतिहिंसा जाग उठी है। जनमेजय कहता है कि पिता को जलाकर मारने का प्रतिफल इन नागो को उसी प्रकार जलाकर दूँगा। हाहाकार मचा हुआ है।

सरमा—क्यों मनसा, अब मैं जाऊँ, या तक्षक के हाथों प्राण दूँ? यादवी प्राणों की भिक्षा नहीं चाहती।

मनसा—सरमा! यदि हो सके, तो इस विपत्ति के समय नागो की कुछ सहायता करो।

सरमा—नहीं मनसा। यह आग तुम्हीं ने भड़काई है। इसे बुझाने का साधन मेरे पास नहीं है।

काश्यप—और मैं, मैं क्या करूँ! हाय रे! मैं क्या—मैं क्या—।

मनसा—तुम ! तुम घृणित पशु हो, चुप रहो !

काश्यप—सरमादेवी ! मेरा अपराध—हाय रे क्षमा—।

सरमा—मनसा ! मै प्रतिज्ञा करती हूँ कि मुझसे नागों का कुछ भी अनिष्ट नही होगा ।

[जाती है]

तक्षक—इधर हम लोग भी तो आर्य सोमा के भीतर ही हैं ! क्या किया जाय, कैसे पहुँचकर वासुकि को सहायता करूँ !

मनसा—चलो ! मैं जानती हूँ; एक पथ है, जो तुम्हे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देगा ।

काश्यप—मै भी चलूँगा ! यहाँ नही—पर हाय रे ! यहाँ मेरा बड़ा धन है !

मनसा—सावधान ! नागराज, ऐसे कृतघ्न का विश्वास न कीजिए ।

[तक्षक और मनसा दोनों जाते हैं]

काश्यप—तब चलो भाइयो, हम भी चलें ।

सब ब्राह्मण—तुमने व्यर्थ हम लोगो पर भी एक प्रायश्चित्त चढ़ाया ।

काश्यप—क्या मैंने तुम्हे बुलाया था ?

पह० ब्राह्मण—काश्यप, यदि हम पहले से जानते कि तुम इतने झूठे हो, तो तुम से बात न करते !

दूस० ब्राह्मण—तुम इतने नीच हो, यह हम पहले नहीं जानते थे ।

ती० ब्राह्मण—तुम इतने घृणित हो—

काश्यप—अच्छा बाबा! हम सब कुछ है, तुम लोग कुछ नही हो। यदि दक्षिणा मिलता, तब तो चन्दन चर्चित कलेवर लेकर सब लोग मलय मन्थर गति से घर जाते और मेरी ही बड़ाई करते! किन्तु अब तो व्यवस्था ही उलट गई।

सब ब्राह्मण—तुमने सब को राजनिन्दा सुनने के पाप का भागी बनाया।

काश्यप—और फिर भी कुछ हाथ न आया! चलो!

[सब जाते हैं]

[सरमा गाती हुई आती है]

बरस पड़े अश्रु जल, हमारा मान प्रवासी हृदय हुआ।
भरी धमनियाँ सरिताओं सी, रोप इन्द्रधनु उदय हुआ॥
लौट न आया निर्दय ऐसा, रूठ रहा कुछ बातों पर।
था परिहास एक दो क्षण का, वह रोने का विषय हुआ॥
अब पुकारता स्वयं खड़ा उस पार, बीच में खाई है।
आऊँ क्या मैं भला बतादो, क्या आने का समय हुआ॥
जीवन भर रोऊँ, क्या चिन्ता! वैसी हँसी न फिर करना।
कहकर आने लगा इधर फिर, क्यों अब ऐसा सदय हुआ॥

बरस पड़े०—

नाथ! अभिमान से मैं अलग हूँ, किन्तु स्नेह से अभिन्न हूँ। रमणी का अनुराग कोमल होने पर भी बड़ा दृढ़ होता है। वह सहज मे छिन्न नही होता। जब वह एक बार किसी पर मरती हैं, तब उसी के पीछे मिटती भी हैं। प्राणेश्वर! इस निर्जन वन में

तुम्हारी अप्रत्यक्ष मूर्ति के चरणों पर अभिमानिनी सरमा लोट रही है। देवता! तुम सङ्कट मे हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूँ! मेरा अश्रु जल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा; मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बनकर तुम्हें सुरक्षित रक्खेगी! तुम्हारे लिये अपमानिता सरमा राजकुल में दासी बनेगी।

[जाती है]

छठा दृश्य

स्थान—कानन में अग्निशाला

[शीला और सोमश्रवा]

शीला—क्या गुरुजनो के सामने ही ऐसा प्रश्न कीजिएगा ?

सोमश्रवा—हाँ, और नहीं तो क्या ! पाणिगृहीता भार्या पितृ कुल में वास करेगी, तो मेरा अग्निहोत्र कैसे चलेगा ?

शीला—नागराज को कन्या मणिमाला अब थोड़े ही दिनों तक और यहाँ रहेगी; और भाई आस्तीक का भी समावर्तन संस्कार होने वाला है। अभी वह सहमत नहीं होता है; किन्तु कुछ ही दिनों मे स्वीकार कर लेगा। तब तक के लिये मै क्षमा चाहती हूँ।

सोमश्रवा—तो फिर मैं भी यहीं रहूँ ?

शीला—क्यों नहीं ! फिर पुरोहित क्यो बने थे ?

सोमश्रवा—प्रमादपूर्ण युद्ध विग्रह का सम्पर्क मुझे तो नहीं अच्छा लगता। राजा ने मुझे भी तक्षशिला में बुलाया है। किन्तु देवि, मैं तो नहीं जाता। वह वीभत्स हत्या काण्ड मुझसे नहीं देखा जायगा।

शीला—तो फिर यहाँ श्वशुर कुल में रहोगे ?

सोमश्रवा—नही, अपने पिता के आश्रम मे रहूँगा। यहाँ से तो वह समीप ही है। कभी कभी आकर तुम्हे भी देख जाया करूँगा।

शीला—किन्तु आर्यपुत्र ! हम आरण्यकों को नगर मे रहना कैसे अच्छा लगेगा ?

सोमश्रवा—देवि, मुझे तो राजा की पुरोहिती नहीं रुचती। इन्हीं थोड़े दिनो मे इन्द्रप्रस्थ से जी घबरा उठा है। मुझे तो राजा के साथ ही तक्षशिला जाना पड़ता, किन्तु इस प्रस्तुत युद्ध मे कल्याण के लिये कई आथर्वण प्रयोग करने हैं, इसीसे मैं यहाँ आरण्यक मण्डल में चला आया हूँ। राजा का अग्निहोत्र भी मेरे साथ है। अब कुछ दिनों तक यहीं रहूँगा। तुम भी वहीं चलो। सब लोग मिलते जुलते रहेंगे।

शीला—जब यहीं समीप में रहना है, तब तो ठीक ही है। किसीसे विच्छेद भी न होगा।

[मणिमाला का प्रवेश]

मणिमाला—शीला ! बहन, अरे तू इतना लजाती क्यों है ! यह लो, यह तो बोलती भी नहीं ! तेरा वह परिहास रसिक स्वभाव, वह विनोद पूर्ण व्यवहार, क्या सब भूल गया ?

[च्यवन का प्रवेश। सब प्रणाम करते हैं।]

च्यवन—आयुष्मन् सोमश्रवा ! तुमने राज पुरोहित का पद स्वीकार कर लिया, यह बहुत अच्छा किया।

सोमश्रवा—आर्य ! यह सब आप लोगों की कृपा है।

च्यवन—वत्स, राज सम्पर्क के अवगुण हम ब्राह्मणों को, आरण्यकों को, न सीखने चाहिए; दया, उदारता, शील, आर्जव और सत्य का सदैव अनुसरण करना चाहिए।

सोमश्रवा—आर्य, ऐसा ही होगा।

च्यवन—वत्स! ऐसा काम करना जिसमे दुरात्मा काश्यप ने ब्राह्मणों की जो विडम्बना की है, वह सब धुल जाय और सब पर ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता प्रकट हो जाय! अध्यात्म गुरु जब तक अपना सच्चा स्वरूप नहीं दिखलावेंगे, तब तक दूसरे भला कैसे धर्माचरण करेंगे! त्याग का महत्व, जो हम ब्राह्मणों का गौरव है, सदैव स्मरण रहे। धर्म कभी धन के लिये न आचरित हो, वह श्रेय के लिये हो, प्रकृति के कल्याण के लिये हो, और धर्म के लिये हो। यही धर्म हम तपोधनों का परम धन है। उसकी पवित्रता शरत्कालीन जल स्रोत के सदृश, उसकी उज्ज्वलता शारदीय गगन के नक्षत्रालोक से भी कुछ बढ़कर और शीतल हो।

सोमश्रवा—आर्य! ऐसा ही होगा। मैंने राजा से प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई धर्म विरुद्ध कार्य होगा, तो मैं पुरोहिती छोड़ दूँगा। अब मेरे लिये क्या आज्ञा है? मैं पिताजी को क्या उत्तर—।

च्यवन—(हँस कर) शीला तुम्हारे साथ जायगी। उसे कोई कष्ट नहीं होगा। वह दिन मे दो बार वहाँ आ जा सकती है।

मणिमाला—पिता जी! तो फिर मै सबको एकत्र करूँ? सखियाँ इसकी बिदाई करेंगी।

च्यवन—हाँ पुत्रियो, तुम अपने मङ्गलाचार कर लो!

[सब का प्रस्थान]

सातवाँ दृश्य

स्थान—तक्षशिला की एक घाटी

[आर्य सेना अवरोध किए हुए है। चण्ड भार्गव का प्रवेश।]

चण्ड भार्गव—वीरो, तुमने आर्यों के प्रचण्ड भुज दण्ड का प्रताप दिखला दिया। सम्राट् ने स्कन्धावार से तुम लोगो को बधाई भेजी है। इन पतित और दस्यु अनार्य नागो ने जान लिया कि निष्ठुरता और क्रूरता में भी आर्य शक्ति पीछे नहीं है। वह मित्रो के साथ जितना स्नेह दिखलाती है, उतना ही शत्रुओ को कठोर दण्ड देना भी जानती है। आज के बन्दी कहाँ हैं ?

एक सैनिक—अभी लाता हूँ।

[जाकर बन्दी नागों को ले आता है।]

चण्ड भार्गव—क्यों, अब तुम्हारी क्या कामना है? दौरात्म्य छोड़कर, आर्य साम्राज्य की शान्त प्रजा होकर रहना तुम्हें स्वीकृत है या नहीं ? तुम दस्यु वृत्ति छोड़कर सभ्य होना चाहते हो या नहीं ?

एक नाग—आर्य सेनापति ! दस्यु कौन है, हम या तुम ? जो शान्ति प्रिय जनता पर अपना विक्रम दिखाने का अभिमान करता है, जो स्वाहा के मन्त्र पढ़कर गाँव के गाँव जला देना अपना धर्म समझता है, जो एक की प्रतिहिंसा का प्रतिशोध अनेक से लेना चाहता है, वह दुरात्मा है या हम ?

चण्ड भार्गव—हूँ ! इतनी ऊर्जस्विता !

नाग—क्यो नहीं ! अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के विचार से मै मरने के लिये रण भूमि मे आया था। यदि यहाँ आकर वन्दी हो गया, तो क्या मैं लज्जित होऊँ ? हाँ दुःख इस बात का है कि तुम्हे मार कर नहीं मर सका।

चण्ड भार्गव—तुम जानते हो कि इसका क्या परिणाम होगा ?

नाग—वही जो औरों का हुआ है ! होगा रणचण्डी का विकट ताण्डव, आर्यों का स्वाहा गान, और हमारे जीवन की आहुति ! नाग मरना जानते हैं। अभी वे हीन पौरुष नहीं हुए हैं। जिस दिन वे मरने से डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा। जो जाति मरना जानती रहेगी, उसीको इस पृथ्वी पर जीने का अधिकार रहेगा।

चण्ड भार्गव—मैं अपना कर्तव्य कर चुका। इनकी आहुति दो।

[सैनिक लोग नागों को एक ओर ढकेल कर फूस से घेरकर आग लगा देते हैं। आर्य सैनिक 'स्वाहा' चिल्लाते हैं। पहाडी में से एक गुफा का मुँह खुल जाता है। मनसा और तक्षक दिखाई देते हैं।

चण्ड भार्गव—अरे यही तक्षक है ! पकड़ो, पकड़ो।

[चण्ड भार्गव आगे बढ़ता है। बाल खोले और हाथ में नङ्गी तलवार लिए हुए मनसा आकर बीच में खड़ी हो जाती है। तक्षक दूसरी ओर निकल जाता है। सब आर्यसैनिक स्तब्ध रह जाते हैं।]

———

आठवाँ दृश्य

स्थान—पथ

[माणवक और दामिनी]

माणवक—अब तुम निरापद स्थान में पहुँच गई हो, मैं जाता हूँ।

दामिनी—न न न! कहीं फिर अश्वसेन न आ जाय। मुझे थोड़ी दूर पहुँचा दो। तुम्हारी बात न मान कर मैंने बड़ा दुःख उठाया। परन्तु मेरा अपराध भूलकर थोड़ा सा उपकार और कर दो।

माणवक—मैं जनसंसर्ग से दूर रहना चाहता हूँ। मुझे क्षमा करो!

दामिनी—मैं पथ भ्रष्ट हो जाऊँगी।

माणवक—सो तो हो चुकीं। अब भाग्य में होगा, तो घूम फिर कर फिर अपने स्थान पर पहुँच ही जाओगी।

[वेद और त्रिविक्रम का प्रवेश]

वेद—वत्स त्रिविक्रम! आज और कितना चलना होगा?

त्रिविक्रम—गुरुदेव, किधर चलना है? जनमेजय के यज्ञ की ओर अथवा गुरुपत्नी को ढूँढ़ने?

वेद—ढूँढ़ तो चुके त्रिविक्रम! वह उल्का सी रमणी अनन्त पथ में भ्रमण करती होगी। उसके पीछे किस छाया पथ

से जाऊँगा। दामिनी! अब भी मैं तुझे क्षमा करने के लिये प्रस्तुत हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि बड़े बड़े विद्वान् भी प्रवृत्तियों के दास होते हैं, फिर तू तो एक साधारण स्त्री ठहरी।

त्रिविक्रम—पर अब वह मिलती कहाँ है ?

वेद—जाने उसका भाग्य! चलो, यज्ञशाला की ओर चलें। परन्तु त्रिविक्रम! मुझे भय लग रहा है कि कहीं इस यज्ञ में कोई भयानक काण्ड संघटित न हो!

त्रिविक्रम—तब तो कुटीर की ओर लौटना ही ठीक होगा।

[दामिनी आकर पैरों पर गिरती है]

वेद—कौन ? दामिनी!

दामिनी—हाँ आर्य्यपुत्र। अपराधिनी को क्षमा कीजिए।

वेद—(निश्वास लेकर) क्षमा! दामिनी, हृदय से पूछो, वह क्षमा कर सकेगा। परन्तु— ।

दामिनी--वह मेरा भ्रम था। परन्तु हृदय से नहीं, आप अपनी स्वाभाविक कृपा से पूछ देखिए। वही मुझे क्षमा कर देगी। मेरा और कौन है!

माणवक—आर्य! क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है। मैं भलीभाँति जानता हूँ, मानसिक दुर्बलताओं के रहते हुए भी यह स्त्री आचारतः पवित्र और शुद्ध है।

वेद—दामिनी, उजड़ा हुआ गुरुकुल देखकर क्या करोगी!

चलो, यज्ञशाला की ओर ही चलें। (माणवक से) भाई, तुम कौन हो ?

माणवक—यादवी सरमा का पुत्र।

त्रिविक्रम—सरमा तो आज कल जनमेजय के राजमन्दिर मे ही है। वह छिपी हुई है तो क्या हुआ, मैं उसे पहचान गया हूँ।

माणवक—तो फिर मैं भी आप लोगों के साथ ही चलूँगा; एक बार माँ को देखूँगा।

[सब जाते हैं]

[यवनिका-पतन]

———

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

[वेदव्यास और जनमेजय]

जनमेजय—आर्य ! मुझे बड़ा आश्चर्य है ।

व्यास—वत्स, वह किस बात का ?

जनमेजय—यही कि भगवान् बादरायण के रहते हुए ऐसा भीषण काण्ड क्यों कर हुआ ! इस गृह युद्ध मे पूज्यपाद देवव्रत के सदृश महानुभाव क्यों सम्मिलित हुए ?

व्यास—आयुष्मन्, तुम्हारे पितामहो ने मुझसे पूछ कर कोई काम नहीं किया था, और न बिना पूछे मैं उनसे कुछ कहने ही गया था, क्योंकि वह नियति थी। दम्भ और अहङ्कार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है, और ऐसी ही क्रान्ति के समय विराट् का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूत-हित' की कामना पर ही लक्ष्य होता है।

जनमेजय—भगवन्, इसका क्या तात्पर्य ?

व्यास—परमात्मशक्ति सदा उत्थान का पतन और पतन

का उत्थान किया करती है। इसी का नाम है दम्भ का दमन। स्वयं प्रकृति की नियामिका शक्ति कृत्रिम स्वार्थ सिद्धि मे रुकावट उत्पन्न करती है। ऐसे कार्य कोई जान बूझ कर नहीं करता, और न उनका प्रत्यक्ष मे कोई बड़ा कारण दिखाई पड़ता है। उस उलट-फेर को शान्त और विचार शील महापुरुष ही समझते हैं, पर उसे रोकना उनके वश की भी बात नही है; क्योंकि उसमे विश्व भर के हित का रहस्य है।

जनमेजय—तब तो मनुष्य का कोई दोष नहीं; वह निष्पाप है!

व्यास—(हँसकर) किसी एक तत्त्व का कोई क्षुद्र अंश लेकर विवेचना करने से इसका निपटारा नहीं हो सकता। पौरव, स्मरण रक्खो, पाप का फल दुःख नही, किन्तु एक दूसरा पाप है। जिन कारणों से भारत युद्ध हुआ था, वे कारण या पाप बहुत दिनों से सञ्चित हो रहे थे। वह व्यक्तिगत दुष्कर्म नही था। जैसे स्वच्छ प्रवाह मे कूड़े का थोड़ा सा अश रुक कर बहुत सा कूड़ा एकत्र कर लेता है, वैसे ही कभी कभी कुत्सित वासना भी इस अनादि प्रवाह में अपना बल सङ्कलित कर लेती है। फिर जब उस समूह का ध्वंस होता है, तब प्रवाह मे उसकी एक लड़ी बँध जाती है। और फिर आगे चलकर वह कहीं न कहीं ऐसा ही प्रपञ्च रचा करती है।

जनमेजय—उनका कहीं अवसान भी है?

व्यास—प्रशान्त महासागर ब्रह्मनिधि में।

जनमेजय—आर्य, कुछ मेरा भी भविष्य कहिए।

व्यास—वत्स, यह कुतूहल अच्छा नहीं। जो हो रहा है, उसे होने दो। अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करने का उद्योग करो—मन को शान्त रखो।

जनमेजय—पूज्यपाद, मुझे भविष्य जानने की बड़ी अभिलाषा है।

व्यास—(ध्यानस्थ होकर) जनमेजय, तुम्हारा भविष्य भी बहुत रहस्यपूर्ण है। तुम्हारा जीवन श्रीकृष्ण के किए हुए एक आरम्भ की इति करने के लिये है। (हँसकर ऊपर देखते हुए) गोपाल, इसे तुम इतने दिनो के लिये स्थगित कर गए थे!

जनमेजय—भगवन्, पहेली न बनाइए।

व्यास—नियति, केवल नियति! जनमेजय, और कुछ नहीं। ब्राह्मणो की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध करने का जो दृढ़ सङ्कल्प किया है, उसमे कुछ विघ्न होगा; और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत सी हिंसा होती आई हैं, वे बहुत दिनों तक के लिये रुक जाने को है।

जनमेजय—यदि कोई ऐसी बात हो, तो प्रभु, मैं यज्ञ न करूँ!

व्यास—वत्स, तुमको यज्ञ करना ही पड़ेगा। तुम्हारे सिर पर ब्रह्म हत्या और इतनी नाग हत्या का अपराध है। इसी यज्ञ की आशा से ब्राह्मण समाज ने अभी तक तुम्हे पतित नही ठहराया है। धर्म का शासन तुम्हे मानना ही पड़ेगा। तुम्हारी आत्मा इतनी स्वच्छन्द नहीं कि तुम इस प्रचलित परम्परा का उल्लंघन कर सको। अभी तुम्हारे स्वच्छन्द होने में विलम्ब है। तुम्हे तो यह क्रिया पूर्ण

यज्ञ करना ही पड़ेगा, फल चाहे जो हो। यज्ञेश्वर भगवान् की इच्छा! जाओ जनमेजय, तुम्हारा कल्याण हो।

[जनमेजय प्रणाम करके जाता है। वेदव्यास ध्यानस्थ होते हैं। शीला, सोमश्रवा, आस्तीक तथा मणिमाला का प्रवेश।]

शीला--आर्यपुत्र, अभी तो भगवान् ध्यानस्थ हैं।

सोमश्रवा--तब तक आओ, हम लोग इस मन्त्र मुग्ध वन की शान्त शोभा देखें। क्यो भाई आस्तीक, रमणीयता के साथ ऐसी शान्ति कहीं और भी तुम्हारे देखने मे आई है?

आस्तीक--आर्यावर्त के समस्त प्रान्तों से इसमे कुछ विशेषता है। भावना की प्राप्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह सङ्गम-स्थली हृदय मे कुछ अकथनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उल्लास, उत्पन्न कर देती है! द्वेष यहाँ तक पहुँचते पहुँचते थककर मार्ग मे ही कही सो गया है। करुणा आतिथ्य के लिये वन लक्ष्मी को भाँति आगतो का स्वागत कर रही है। इस कानन के पत्तो पर सरलता-पूर्ण जीवन का सच्चा चित्र लिखा हुआ देखकर चित्र चमत्कृत हो जाता है!

मणिमाला—भाई, मुझे तो इस दृश्य जगत् मे क्षण भर स्थिर होने के लिये अपनी समस्त वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। वह करुणा की कल्पना, जो मुझे उदासीन बनाए रखती थी, यहाँ आने पर शान्ति मे परिवर्तित हो गई है। मानव जीवन को जो कुछ प्राप्त हो सकता है, वह सब जैसे मिल गया हो।

आस्तीक—सुनो !

[कान लगता है]

सोमश्रवा—क्या ?

आस्तीक—यहाँ कोई उपदेश हो रहा है। मन को थोड़ा शान्त करो, सब स्पष्ट सुनाई देने लगेगा।

[सब चुप हो जाते है]

आस्तीक—(आप ही आप) बुला लो, बुला लो, उस वसन्त को, उस जङ्गली वसन्त को, जो महलों मे मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूल में मकरन्द सींचता है। उसे अपने हृदय मे बुला लो ! जो पतझड़ करके नई कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मो की मादकता मे उत्तेजित होकर इस भ्रान्त जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल के सदृश सस्नेह, सकरुण आवाहन करता है, जिसमे विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सब को कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसन्त को, उस गई हुई निधि को, लौटा लो। काँटों मे फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले ! विश्व मात्र एक कुसम स्तवक सदृश किसी निष्काम के करो मे अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग गूँज उठे। विश्व भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय।

व्यास—(आँख खोलते हुए) नमो रुचाय ब्राह्मये।

सोमश्रवा—आर्य के श्रीचरणो मे उग्रश्रवा का पुत्र सोमश्रवा प्रणाम करता है।

आस्तीक—यायावर वंशी आस्तीक आर्य को प्रणाम करता है।

व्यास—कल्याण हो! सद्बुद्धि का उदय हो!

शीला—आर्य! उग्रश्रवा की पुत्रवधू भगवान् के चरणों में प्रणाम करती है।

मणिमाला—महात्मा के चरणों में नागराज बाला मणिमाला प्रणाम करती है।

व्यास—कल्याण हो! विश्व भर के कल्याण में तुम सब दत्तचित्त हो! वत्स सोमश्रवा, तुम राज पुरोहित हुए, यह अच्छा ही हुआ। पर देखो, धर्म का शासन बिगड़ने न पावे।

सोमश्रवा—आर्य, आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपने कर्त्तव्य में दृढ़तापूर्वक लगा रहूँ।

व्यास—वत्स आस्तीक, तुम्हारा प्रादुर्भाव किसी विशेष कार्य के लिये हुआ है। आशा है, तुम वह कार्य सम्पन्न करोगे।

आस्तीक—आर्य, आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपने कर्तव्य के पालन में सफल होऊँ।

व्यास—पुत्री शीला, तुम आर्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी बनो।

शीला—भगवान् की जैसी आज्ञा! इसी प्रकार आशीर्वाद देते रहिए।

व्यास—नागराज कुमारी, अदृष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिये भी एक बड़ा भारी कर्तव्य रख छोड़ा है, जो इस आर्य और अनार्य

ही नहीं; किन्तु समस्त मानव जाति के इतिहास में एक नया युग उत्पन्न करेगा। विश्वात्मा तुम्हें उसमे सफलता दे।

मणिमाला—भगवन्, आशीर्वाद दीजिए कि ऐसा ही हो।

व्यास - प्रिय वत्सगण, शुद्ध बुद्धि की शरण में जाने पर वह तुम्हें आदेश करेगी, और सीधा पथ दिखलावेगी। जाओ, तुम सब का कल्याण हो, और सब का तुम लोगों के द्वारा कल्याण हो।

सब—जो आज्ञा !

[सब प्रणाम करके जाते हैं [

दूसरा दृश्य

स्थान—वपुष्टमा का प्रकोष्ठ

[वपुष्टमा]

वपुष्टमा—आर्यपुत्र अश्वमेध के व्रती हुए है। पृथ्वी का यह मनोहर उद्यान रक्त रञ्जित होगा! भगवन्! क्या तुम भी वलि से प्रसन्न होते हो? यह तो बड़ा सङ्कट है। मन हिचकता है; पर विवशता वही करने को कहती है। धर्म की आज्ञा और ब्राह्मणों का निर्णय है। विना यज्ञ किए छुटकारा नहीं। कैसा आश्चर्य है। एक व्यक्ति की हत्या, जो केवल अनजान में हो गई है, विधि-विहित असंख्य हत्याओं से छुड़ाई जायगी! अखण्डनीय कर्म लिपि! तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ मे नहीं आता।

प्रमदा—[प्रवेश करके] महादेवी की जय हो! परम भट्टारक ने सन्देश भेजा है कि मै गान्धार विजय करके वहुत शीघ्र ही लौटता हूँ। प्रिय अनुजों के साथ महादेवी यज्ञ सम्भार का आयोजन करें।

वपुष्टमा—प्रमदा, जब से मैंने अश्वमेध का नाम सुना है, तब से मेरा हृदय कॉप रहा है। न जाने क्या होने वाला है।

प्रमदा—महादेवी, भगवान् सब कुशल करेंगे। आप अपने हृदय को इतना दुर्वल वनाती हैं! सहस्रों राजकुमारों और श्रीमानों के मुकुट मणियों की प्रभा से ये पवित्र चरण रञ्जित होंगे, और इन्हे देखकर आर्यावर्त की समस्त ललनाएँ उस माहात्म्य का,

उस गौरव का, उच्च कण्ठ से गान करेंगी। भला ऐसे सुअवसर पर आपको प्रसन्न होना चाहिए वा उद्विग्न ?

वपुष्टमा—उद्विग्न! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है! मेरा चित्त चञ्चल हो उठा है। भविष्य कुछ टेढ़ो रेखा खींचता हुआ दिखाई दे रहा है।

प्रमदा—महादेवो, आपको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं। एक नई परिचारिका आई है। आज्ञा हो तो उसे बुलाऊँ। वह बहुत अच्छा गाना जानती है। उसी का कोई गीत सुनकर मन बहलाइए।

वपुष्टमा—जैसी तेरी इच्छा।

[प्रमदा जाती है और परिचारिका के वेश में सरमा को लाती है]

प्रमदा—यही नई परिचारिका है ?

सरमा—सम्राज्ञी को मैं प्रणाम करती हूँ।

वपुष्टमा—(चौंककर) कौन ? तुम्हारा क्या नाम है ?

सरमा—मुझे लोग कलिका कहते हैं।

प्रमदा—नाम तो बड़ा अनोखा है! अच्छा, महादेवी को कोई सुन्दर गीत सुनाओ।

कलिका—महादेवी! मुझे तो केवल करुणापूर्ण गीत आते हैं।

वपुष्टमा—वही गाओ।

प्रमदा—(गाती है)

मन जागो जागो।

मोह निशा छोड़ के, मन जागो जागो।

विकसित हो कमल-वृन्द, मधुप मालिका

गूँजती करती पुकार—जागो जागो।
हेम पान पात्र प्रकृति, सुधा सिन्धु से
भर कर है लिए खड़ी, जागो जागो।

वपुष्टमा—कलिका, तुम्हारे इस गाने का क्या अर्थ है?

कलिका—महादेवी, वही जो लगा लिया जाय।

वपुष्टमा—कुछ और सुनाओ।

कलिका—अच्छा,

(गाती है)

फूल जब हँसते हैं अभिराम
मधुर माधव ऋतु में अनुकूल।
लगी मकरन्द झड़ी अविराम;
कहे जो रोना, उसकी भूल।

लोग जब हँसने लगते हैं;
तभी हम रोने लगते हैं।

उषा में सीमा पर के खेत
लहलहाते कर मलयज स्पर्श।
बिखरते हिमकण विकल अचेत,
उसे हम रोना कहे कि हर्ष।

कृषक जब हँसने लगते हैं,
तभी हम रोने लगते हैं।

इसी 'हम' को तुम ले लो नाथ,
न लूटो मेरी कोई वस्तु।

उसे दे दो करुणा के हाथ,
सभी हो गया तुम्हारा, अस्तु।
लोग जब रोने लगते हैं,
तभी हम हँसने लगते हैं।

वपुष्टमा—सचमुच कलिका, जब एक रोता है, तभी तो दूसरे को हँसी आती है। यह संसार ऐसा ही है।

कलिका—स्वामिनी! केवल दम्भ, और कुछ नहीं! साधारण मनुष्यता से कुछ ऊँचे उठा लेनेवाला दम्भ, हृदय को बड़े वेग से पटक देता है, जिससे वह चूर हो जाता है! महादेवी, चूर होकर, मार्ग की धूल में मिलकर, समता का अनुभव करते हुए चरण-चिह्नों की गोद मे लोटना भी एक प्रकार का सुख है, जो सब की समझ में नहीं आता!

वपुष्टमा—हा! इच्छा होने पर भी मैं ऐसा नहीं कर सकती!

[सोमश्रवा और उत्तङ्क का प्रवेश]

वपुष्टमा—पौरव कुल वधू का आर्य के चरणों में प्रणाम है।

उत्तङ्क—कल्याण हो, सौभाग्यवती हो, वीरप्रसूति हो। श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन ये तीनों पाण्डव कुल के महावीर विजयोपहार के साथ लौट आए। अश्व भी गान्धार तथा उत्तर-कुरु विजय करने के लिये प्रेरित किया गया है। स्वयं सम्राट् भी इस वार अश्व की रक्षा के लिये आगे बढ़ेंगे।

वपुष्टमा—आर्य के रहते हुए प्रबन्ध में कोई त्रुटि न होगी। कृती देवरों की सम्वर्धना करने के लिये मैं यज्ञशाला में चलती हूँ। किन्तु प्रभो, यह यज्ञ कैसा होगा?

उत्तङ्क—जैसा सदैव से होता आया है ! सम्राज्ञी, ब्रह्म हत्या का प्रायश्चित्त करने और अपयश से बचने के लिये ही तो यह समस्त आयोजन है । बहुत अनुनय विनय करने पर कुछ ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिये उद्यत हुए है, सो भी जब कुलपति शौनक ने आचार्य होना स्वीकृत किया है, तब ।

वपुष्टमा—यह सब करने पर भो क्या होगा ?

उत्तङ्क—राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ़ करना हो इसका एक मात्र उद्देश्य है ।

वपुष्टमा—तब आर्य इसे धर्म क्यो कहते हैं ?

उत्तङ्क—सम्राज्ञो, क्या धर्म कोई इतर वस्तु है ? वह तो व्यापक है । भला बिना उसके कहो राष्ट्र नोति और समाज नोति चल सकतो है ?

वपुष्टमा—मै तो घबरा रही हूँ !

उत्तङ्क—कल्याणी, सावधान रहे । आप सम्राज्ञा है; फिर ऐसी दुर्बलता क्यो ? नियति का क्रोड़ा कन्दुक नीचा ऊँचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुँच ही जायगा । चिन्ता क्या है ? केवल कर्म करते रहना चाहिए ।

वपुष्टमा—आर्य, आशीर्वाद दोजिए कि पति देवता के कार्य मे मै सहकारिणो रहूँ, और मरण में भो पश्चात्पद न होऊँ ।

उत्तङ्क—पौरव कुल वधू के योग्य साहस हो; कल्याण हो !

[जाता है]

———

तीसरा दृश्य

स्थान—पहाड़ की तराई

[नाग सैनिक खड़े हैं। मनसा और उसकी दो सखियाँ गाती हैं]

क्या सुना नहीं कुछ, अभी पड़े सोते हो।
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो॥

प्रतिहिंसा का विष तुम्हें नहीं चढ़ता क्या।
इतने शीतल हो, वेग नहीं बढ़ता क्या॥
जब दर्प भरा अरि चढ़ा चला आता है,
तब भी तुममें आवेश नहीं आता है।

जातीय मान के शव पर क्यों रोते हो।
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो॥

धिक्कार और अवहेला की बलिहारी।
सचमुच तुम सब हो पुरुष या कि हो नारी॥
चल जाय दासता की न कहीं यह छलना।
देखते तुम्हारे लान्छित हों कुल ललना।

जातीय क्षेत्र में अयश बीज बोते हो।
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो॥

लज्जा मेरी या अपना सुख रखना है।
परिणाम सुखद है, कटवा फल चखना है॥

अरमान शल्य से छिदी हुई है छाती ।
निज दीन दशा पर दया नहीं क्या आती ॥
अपने स्वत्वों से स्वयं हाथ धोते हो ।
क्यो निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो ॥

तक्षक—देवि, जातीयता की प्रतिमूर्ति, तुम्हारी जो आज्ञा होगी, वही होगा ! जय, नाग माता की जय !

सब—जय, नाग माता की जय !

वासुकि—हम लोग उपहार लेकर जनमेजय की अगवानी करने नहीं जायँगे !

नागगण—किन्तु मारेंगे और मर जायँगे !

मनसा—यही तो वीरों के उपयुक्त आचरण है ! अच्छा तो सावधान ! अश्व सम्भवतः अब यहाँ आना ही चाहता है; उसे पकड़ना चाहिए ।

[आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

आस्तीक—क्यों माँ, क्या तुमको रक्त-रञ्जित धरणी मनोरम जान पड़ती है ? एक प्राणी दूसरे का संहार करे, क्या इसके लिये तुम उत्तेजना देती हो ? मेरी माँ, यह क्या है ?

मणिमाला—(तक्षक से) पिताजी, जब कि आर्यों ने इधर उपद्रव करना बन्द कर दिया है, और वे एक दूसरे रूप से सन्धि के अभिलाषी हैं, तब फिर आप युद्ध के लिये क्यों उत्सुक हैं ?

मनसा—बेटी, यदि तू जानती—!

मणिमाला—क्या ?

मनसा—यही कि तेरे पिता को आग में जलाने के लिये वे ढूँढ़ते फिरते हैं, और इस नाग जाति को धूल में मिला देना चाहते हैं।

आस्तीक—क्यों आप अपने को मानव जाति से भिन्न मानती हैं? क्या यह आप लोगों के कल्पित गौरव का दम्भ नहीं है?

मनसा—किन्तु वत्से, क्या यह आर्यों का दम्भ नहीं है? क्या वे तुम्हारे इस ऊँचे विचार को नहीं समझते?

आस्तीक—माँ, तुम्हारा कथन ठीक है! किन्तु जब एक दूसरे प्रकार से नाग जाति के भाग्य का निपटारा होने को है, तब इस युद्ध विग्रह से क्या लाभ? आर्यों का अश्व आवेगा, घूमकर चला जायगा। हम लोगों की स्वाधीनता पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब हम युद्ध करके उनके सुव्यवस्थित राष्ट्र का नाश नहीं कर सकते, तब उनसे मित्रता रखने में क्या बुराई है? यह तो कल्पित मानापमान के रूप मे युद्ध-लिप्सा ही दिखाई देती है।

तक्षक—(स्वगत) क्यों न हो, आर्य रक्त का कुछ तो प्रभाव होना ही चाहिए।

मनसा—सुना था, मेरी सन्तान से नाग जाति का कुछ उपकार होगा। इसीलिये मैंने तुझे उत्पन्न किया था। यदि तू तलवार लेकर इस जातीय युद्ध में नहीं सम्मिलित होता, तो आज से तू मेरा त्याज्य पुत्र है।

मणिमाला—बूआ, ऐसा न कहो। भाई आस्तीक—।

मनसा—लड़की, चुप रह! मुझे तू अभी नहीं पहचानती।

आस्तीक—मैं किस प्रकार इस जाति की सहायता करूँगा यह मैं जानता हूँ। तो फिर माँ, मैं प्रणाम करता हूँ। तलवार लेकर तो नहीं, पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा। इस क्रोध की बाढ़ में मैं बाँध बनूँगा, चाहे फिर मैं ही क्यों न तोड़कर बहा दिया जाऊँ।

[जाता है]

मणिमाला—फिर मुझे क्या आज्ञा है?

तक्षक—जा बेटी, तू घर जा।

[मणिमाला जाती है]

मनसा—सावधान! वह अश्व आ रहा है।

[अश्व के साथ आर्य सैनिकों का गाते हु॰ प्रवेश]

पद-दलित किया हैं जिसने भूमण्डल को।
निज हेषा से चौंकाता आखण्डल को॥

वह विजयी याज्ञिक अश्व चला है आगे।
हम सब हैं रक्षक, देख शत्रुगण भागे॥

यह अरुण पताका नभ तक है फहराती।
जो विजय गीत मिल मलय पवन से गाती॥

जय आर्य भूमि की, आर्य जाति की जय हो।
अरिगण को भय हो, विजयी जनमेजय हो॥

मनसा—छीन लो, इस अश्व को छीन लो!

[सब नाग चिल्ला कर दौड़ते हैं। युद्ध होता है। नाग अश्व पर अधिकार कर लेते हैं। दूसरी ओर से चण्ड भार्गव और जनमेजय सैनिकों के साथ आकर नागों को भगाते और अश्व छुड़ा ले जाते हैं। मणिमाला का प्रवेश।]

मणिमाला—क्या ही वीर दर्प से पूर्ण मुख श्री है! प्रणय-वृक्ष, तू कैसे भयानक पानी से टकरानेवाले कगारे पर लगा है! पिता! नहीं, तुम नहीं मनोगे। ओह! क्षण भर में कितना भीषण रक्तपात हो गया।

[घायलों को देखती है। मनसा का पुनः प्रवेश।]

मनसा—कौन? मणिमाला!

मणिमाला—हाँ बूआ, देखो तुम्हारी उत्तेजना ने क्या परिणाम दिखलाया। आहा! बेचारे का हाथ ही कट गया है!

मनसा—(गम्भीर होकर) बेटी, सचमुच यह बड़ा भयानक दृश्य है। इसे देखकर तो मेरा भी हृदय काँप उठा है।

मणिमाला—नहीं बूआ, तुम न काँपो। तुम त्रिशूल लिए हुए वज्र कठोर चरणों से इन शवों पर रण चण्डी का ताण्डव नृत्य करो। संसार भर की रमणीयता और कोमलता वीभत्स क्रन्दन करे, और तुम्हारे रमणी सुलभ मातृभाव की धज्जियाँ उड़ जाँय! विश्व भर में रमणियों के नाम का आतङ्क छा जाय! सेवा, वात्सल्य, स्नेह तथा इसी प्रकार की समस्त दुर्बलताओं के कहीं चिह्न तक न रह जायँ; क्योंकि सुनती हूँ, इन सब विडम्बनाओं से केवल स्त्रियाँ ही कलङ्कित हैं। हाँ बूआ, एक बार विकट हुङ्कार कर दो!

मनसा—बस बेटी, बस अधिक नहीं। मेरी भूल थी, पर

वह आज समझ में आ गई। यदि स्त्रियाँ अपने इंगित की आहुति न दें तो विश्व में क्रूरता की अग्नि प्रज्वलित ही नहीं हो सकती। बर्बर रक्त को खौला देना इन्हीं दुर्बल रमणियों की उत्तेजना पूर्ण स्वीकृति का कार्य है। उनकी कातर दृष्टि में जो बल, जो कर्तृत्व शक्ति है, वह मानव शक्ति का सञ्चालन करने वाली है। जब अनजान में उसका दुरुपयोग होता है, तब तत्काल इस लोक मे दूसरा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है। बेटी, क्षमा कर! तू देवी है।

मणिमाला—तो चलो बूआ, इन घायलो की शुश्रूषा करें।

मनसा—अच्छा बेटी!

[दोनों घायलों को उठाती हैं]

———

चौथा दृश्य

स्थान—महल का बाहरी भाग

[कालिका दासी के रूप में सरमा आती है]

सरमा—मैं पति सुख से वञ्चित हूँ। पुत्र भी अमानित होकर रूठ कर चला गया है। जाति के लोगों का निरादर और कुटुम्बियों का तिरस्कार सह कर पेट पालने के लिए अधम दासता कर रही हूँ! तब भी कौन कह रहा है कि 'मैं तुम्हारे साथ हूँ'? जब किसी की सहानुभूति नहीं, जब किसी से सहायता की आशा नहीं, तब भी विश्वास! अन्ध हृदय! तुझे क्या हो गया है? मैं यह भी नहीं जानती कि इस राजकुल में क्या करने के लिये आई हूँ। होगा, मेरा कोई काम होगा। मैं उस अदृष्ट शक्ति का यन्त्र हूँ। वह, जो मेरे साथ है, मुझसे कोई काम कराना चाहता है।

[प्रमदा का प्रवेश]

प्रमदा—कलिका! तू यहाँ क्या कर रही है? क्या अभी तक पत्नी शाला में नहीं गई? महारानी तेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी।

कलिका (सरमा)—प्रमदा! आज इस समय तू ही काम चला दे। मैं रात को रहूँगी। आज अश्व पूजन होगा। रात भर जागना होगा। नृत्य गीत देखूँ सुनूँगी। मेरी प्यारी बहन, आज मेरा जी बेचैन है।

प्रमदा—अरी वाह ! मै क्यो तेरा काम करने लगी !

कलिका—मैं तेरे पैरों पड़ती हूँ । बहन ! इस समय तो मैं किसी काम की नहीं हूँ ।

प्रमदा—क्या तूने कुछ माध्वी पी ली है ? कल तो अच्छी भली थी ।

कलिका—नहीं बहन, मै गौड़ी या माध्वी कुछ नही पीती । अच्छा तू न करेगी, तो मैं ही चलती हूँ ।

[रोनी सूरत बनाती है]

प्रमदा—नही, मै तो हँसी करती थी । जा, जब तेरा जी चाहे, तब आइयो । मै जाती हूँ ।

[प्रमदा जाती है । सरमा किसी को आते देखकर छिप जाती है]

[इधर उधर देखता हुआ काश्यप आता है ।]

काश्यप—सन्ध्या हो चली है । आकाश ने धूसर अन्धकार का कम्बल तान दिया है । यह गोधूलि आँखो मे धूलि झोंककर काम करने का अभय दान दे रही है । आङ्गिरस काश्यप की प्रति-हिंसा का फल, उसे अपमानित करके, पुरोहिती छीनकर, शौनक को आचार्य बनाने की मूर्खता का दण्ड आज मिलेगा । ब्राह्मण ! आज वह शक्ति दिखला दे कि तुझ मे 'शापादपि शरादपि' दोनो प्रकार से दण्ड देने का अधिकार है । ओह, इतनी पुष्कल दक्षिणा ! ऐसे महत्व का पद ! मुझसे सब छीन लिया गया ! रोएगा, जनमेजय, तू आठ आठ आँसू रोएगा ! तेरे हृदय को क्षत विक्षत करके, तेरी आत्मा को ठोकर लगाकर, मैं दिखला दूँगा कि

ब्राह्मण को अपमानित करने का क्या फल है !–अभी नहीं आया ?

[तक्षक का छिपते हुए प्रवेश]

तक्षक—कौन है ?

काश्यप—मैं, आङ्गिरस। तुम कौन ?

तक्षक—नाग।

काश्यप—प्रस्तुत होकर आए हो ?

तक्षक—तुम अपनी कहो।

काश्यप—मैंने सब ठीक कर दिया है। अश्व पूजन मे जाने वाले सब ब्राह्मण हमारे हैं। वहाँ थोड़ी सी स्त्रियाँ ही रहेंगी। उनसे तो तुम नहीं डरते न ?

तक्षक—मेरे केवल पचीस ही साथी आ सके है।

काश्यप—इतने से काम हो जायगा। यज्ञ का अश्व तुम ले भागना, और यदि हो सके, तो महिषी को भी—।

तक्षक—(चौंककर) क्यो, उसका क्या काम है ?

काश्यप—बताऊँगा। इस समय जाओ, सावधानी से काम करना। थोड़े से रक्षक रहेंगे, वे भी सोम पान करके झूमते हुए मिलेंगे। तुम्हें कोई डर नहीं है। जाओ अब समय हो गया। यदि चूकोगे तो फिर ठिकाना न लगेगा। घात में लग जाओ। सरमा भी यहीं है, वह तुम्हारा काम करेगी।

तक्षक—अच्छा, जाता हूँ। किन्तु काश्यप, अब की अन्तिम दाँव है। यदि अब की सफलता न हुई तो फिर तुम्हारी कोई बात न मानूँगा।

[तक्षक जाता है]

काश्यप—मरो, कटो; मुझे क्या ! घात चल गई, तो हँसूँगा; नहीं तो कोई चिन्ता नहीं।

[काश्यप का प्रस्थान। सरमा का पुनः प्रवेश।]

सरमा—इस नीच ने आज फिर माया जाल रचा है। अच्छा, आज तो सरमा जान पर खेलकर उस आर्य बाला की मर्यादा की रक्षा करेगी। उस तिरस्कार का जो वपुष्टमा ने सिंहासन पर बैठकर किया है, प्रतिफल देने का अच्छा अवसर मिला है। देखूँ, क्या होता है।

[आस्तीक का प्रवेश]

आस्तीक—आर्ये, मैं आस्तीक प्रणाम करता हूँ।

सरमा—कल्याण हो वत्स ! तुम यहाँ कैसे आये ?

आस्तीक—माँ ने मुझे त्याज्य पुत्र बनाकर निकाल दिया है।

सरमा—(उसके सिर पर हाथ फेरती हुई) आज से मैं तुम्हारी माँ हूँ। वत्स, दुखी न होना। तुम मेरे पास रहो। माणवक और आस्तीक, मेरे दो बेटे थे। एक खो गया, तो दूसरा मिल गया।

आस्तीक—माँ, मुझे आज्ञा दो कि मैं क्या करूँ।

सरमा—आज तुम्हें बहुत बड़ा काम करना होगा। तुम पत्नीशाला की पीछे की खिड़की के पास चलो। जब तक मेरा कण्ठ स्वर न सुनना, तब तक वहाँ से कहीं न जाना।

आस्तीक—जो आज्ञा।

[दोनों जाते हैं। शीला और दामिनी का प्रवेश]

शीला—अहा बहन दामिनी, अच्छे समय पर आ गई। क्या यज्ञशाला में चलती हो ?

दामिनी—किन्तु तुमने तो अभी तक वेष भूषा भी नही की।

शीला—वेश भूषा ! क्यों ?

दामिनी—क्यो, जब वहाँ बहुत सी कुल ललनाएँ और राज-कुल की स्त्रियाँ अच्छे अच्छे गहने कपड़ो से सजकर आवेंगी, तब क्या तुम इसी वेश में उनमें जा बैठोगी ?

शीला—क्यों, क्या इसमे कुछ लज्जा है ?

दामिनी—अवश्य ! जहाँ जैसा समाज हो, वहाँ उसी रूप मे जाना चाहिए।

शीला—यह विडम्बना है। पवित्र हृदय को इसकी क्या आवश्यकता है ? बनावटी बातें क्षणिक होती हैं; किन्तु जो सत्य है, वह स्थायी होता है। बहन दामिनी, मेरी समझ मे तो स्त्रियाँ विशेष शृङ्गार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता भी खो बैठती हैं। वस्त्रों और आभूषणो की रक्षा करने और उन्हे सँभालने में उनको जो कार्य करने पड़ते हैं, वे ही पुरुषो के लिए विभ्रम हो जाते हैं। चलने मे आभूषणो के कारण सँभालकर पैर रखना, कपड़ो को बचाने के लिये उन्हे समेट कर उठाते, हटाते खींचते हुए चलना—यह सब पुरुषों की दृष्टि को तो कलुषित करता ही है, हमारे लिये भी और बन्धन हो जाता है। खुले हृदय से, स्वच्छन्दता से, उठना बैठना और बोलना चलना भी दुष्कर

हो जाता है। वेश भूषा के नियमों में उलझकर अस्त व्यस्त हो जाना पड़ता है।

दामिनी—बहन, तुमने तो यह बड़ी भारी वक्तृता दे डाली। तो फिर क्या संसार में इनका प्रयोग व्यर्थ है ?

शीला—मेरी सम्मति तो यह है कि सरलता, हृदय की पवित्रता, स्वच्छता और अपनी प्रसन्नता के लिए उतना ही स्त्री जन सुलभ सहज शृङ्गार पर्याप्त है, जो स्वतन्त्रता में बाधा न डालता हो, जो दूसरे का मनोरमण करने के लिए न हो। कुटिलों का लक्ष्य बनने के लिये कठपुतली की तरह सजना व्यर्थ ही नहीं, किन्तु पाप भी है।

दामिनी—लो, यह व्यवस्था भी हो गई, किन्तु मैं तो इसे नहीं मानने की।

शीला—देखो, इसी कारण मणि कुण्डलों के लिये, अपने पति के सामने तुम्हें कितना लज्जित होना पड़ा था; और कितना बड़ा अनर्थ तुमने उपस्थित कर दिया था !

दामिनी—(सिर नीचा करके) हाँ बहन, यहाँ तो मुझे हार माननी ही पड़ी ! अच्छा, लो चलो।

[दोनों जाती हैं]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पत्नीशाला की पिछली खिड़की

[आस्तीक टहल रहा है]

[योद्धा के वेश में मणिमाला का प्रवेश]

आस्तीक—तुम कौन हो ?

मणिमाला—भाई आस्तीक ! तुम यहाँ कैसे ?

आस्तीक—अरे ! मणिमाला, तुम इस वेश मे क्यो ?

मणिमाला—भाई ! आज विषम काण्ड है। पिताजी ने फिर कुछ आयोजन किया है। मैं भी इसलिये आई हूँ कि यदि हो सके तो उन्हे बचाऊँ।

आस्तीक—मुझे भी सरमा माता ने भेजा है। किन्तु तुम्हारा यहाँ रहना तो ठीक नही। जब कोई उपद्रव संघटित होगा, तब तुम यहाँ रह कर क्या करोगी ?

मणिमाला—नहीं, मै तो आज उपद्रव मे कूद पड़ूँगी। क्यो भाई, क्या तुम्हे रमणियो को दुर्बलता ही विदित है; उनका साहस तुमने नही सुना ?

आस्तीक—किन्तु—।

मणिमाला—आज किन्तु परन्तु कुछ नहीं सुनूँगी। आज मुझे विश्वास है कि पिताजी पर कोई भारी आपत्ति आवेगी।

आस्तीक—क्यों ?

मणिमाला—भला कुकर्म का भी कभी अच्छा परिणाम हुआ है ? (कान लगाकर सुनती है) भीतर कुछ कोलाहल सा सुनाई दे रहा है। मैं जाती हूँ।

[जाना चाहती है। आस्तीक हाथ पकड़ कर रोकता है।]

आस्तीक—ठहरो मणि ! तुम न जाओ।

मणिमाला—छोड़ दो भाई। मैं अवश्य जाऊँगी; इसीलिये वेश बदल कर आई हूँ।

[मणिमाला हाथ छुड़ाकर चली जाती है। माणवक का प्रवेश]

आस्तीक—कौन ? माणवक !

माणवक—भाई आस्तीक !

(खिड़की खुलती है। मूर्छित वपुष्टमा को लिये कई नागों का उसीसे बाहर आना। सरमा पीछे से आकर उनको रोकना चाहती है। नागों का वपुष्टमा को ले जाने का प्रयत्न।)

माणवक—तुम इसे मेरी रक्षा में छोड़ दो नागराज की सहायता करो।

(घबड़ाये हुए नाग वपुष्टमा को उसी के हाथ सौंप देते हैं)

सरमा—यहाँ बात मत करो। शीघ्र चलो।

आस्तीक—किन्तु मणिमाला भी यहीं है।

सरमा—आर्य लोग स्त्रियों की हत्या नहीं करते। चलो।

[चारो जाते हैं। रक्षकों से युद्ध करते हुए तक्षक का प्रवेश। और भी आर्य सैनिक आ जाते हैं। तक्षक और मणिमाला दोनों बन्दी होते हैं]

छठा दृश्य

स्थान—वेदव्यास का आश्रम

[वेदव्यास बैठे हैं । माणवक, आस्तीक, सरमा और वपुष्टमा भी हैं]

व्यास—ब्रह्म चक्र के प्रवर्तन मे कैसी कठोर कमनीयता है ! वत्स आस्तीक, मैंने तुमसे जो कहा था, उसे मत भूलना ।

आस्तीक—भगवन् ! मैं मातृ द्रोही हो गया हूँ । मैंने माता की आज्ञा नही मानी । मेरे सिर पर यह एक भारी अपराध है ।

व्यास—वत्स, सत्य महान् धर्म है । इतर धर्म क्षुद्र है, और उसी के अङ्ग हैं । वह तप से भी उच्च है, क्योकि वह दम्भ विहीन है । वह शुद्ध बुद्धि की आकाशवाणी है । वह अन्तरात्मा की सत्ता है । उसको दृढ़ कर लेने पर ही अन्य सब धर्म आचरित होते है । यदि उससे तुम्हारा पद स्खलन नहीं हुआ, तो तुम देखोगे कि तुम्हारी माता स्वयं तुम्हारा अपराध क्षमा और अपना अपराध स्वीकृत करेगी । क्योकि अन्त मे वही विजयी होता है, जो सत्य को परम ध्येय समझता है ।

माणवक—भगवन्, यह बात सर्वत्र तो नही घटित होती ! क्या इसमे अपवाद नही होता ? यदि सत्य का फल श्रेय ही होता, यदि पाप करने से लोग प्रत्यक्ष नरक की ज्वाला मे जलते, यदि पुण्य करते हुए जीवन को सुखमय बना सकते, तो क्या संसार मे कभी इतना अत्याचार हो सकता था ?

व्यास—वत्स माणवक, विजय एक ही प्रकार की नहीं है, और उसका एक ही लक्षण नहीं है। परिणाम में देखोगे कि तुम श्रेयस्कर मार्ग पर थे। यदि प्रतिहिंसा वश तुमने नागों का साथ दिया था, तो उस अलौकिक प्रभुता ने उसका भी कुछ दूसरा ही तात्पर्य रक्खा था। आज यदि तुम वहाँ न होते, कोई दूसरा नाग होता, तो इस पौरव कुल वधू की क्या अवस्था होती? क्या उस सम्राट् पर यह तुम्हारी विजय नहीं है, जिसके भाइयों ने तुम्हें पीटा था? तुम्हारे सत्य ने ही तुम्हें विजय दिलाई है।

सरमा—आर्य, श्री चरणों की कृपा से मेरी सारी भ्रान्ति दूर हो गई; किन्तु एक अवशिष्ट है।

व्यास—वह क्या?

सरमा—महारानी वपुष्टमा का परिणाम चिन्ता का विषय है।

व्यास—है अवश्य, किन्तु कोई भय नहीं। विश्वात्मा सब का कल्याण करता है।

आस्तीक—तब क्या आज्ञा है?

व्यास—ठहरो; इस आश्रम में सब प्राकृतिक साधन पर्याप्त हैं। तुम लोग यहीं रहो। जब तुम लोगों के जाने की आवश्यकता होगी, तब मैं स्वयं भेज दूँगा। अभी तुम लोग विश्राम करो।

[वेदव्यास जाते हैं]

वपुष्टमा—बहन सरमा, मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था। आज मुझे तुम्हारे सामने आँख उठाते लज्जा आती है। तुमने मुझ पर जैसी विजय पाई है, वह अकथनीय है।

सरमा—नहीं महारानी, वह आपके सिंहासन का आवेश

था। वास्तविक स्थिति कुछ और हो थी, जो सब मनुष्यों के लिये समान है। वह स्त्री जाति के सम्मान का प्रश्न था; नाग और आर्य जाति की समस्या नहीं थी। नाग परिणय से तो मैं न्याय पाने की भी अधिकारिणी न थी। किन्तु क्या आपको विदित है कि कितने ऐसे शुद्ध आर्यों का भी अधिकारियों के द्वारा प्रतिदिन बहुत अपमान होता है, जो राज सिंहासन तक नहीं पहुँच पाते। पर अब उन बातों की चर्चा ही क्या !

वपुष्टमा—किन्तु बहन, मैं तो किसी ओर की नहीं रही। सम्राट् की इच्छा क्या होगी, कौन जाने। आर्यावर्त भर में यह बात फैल गई होगी कि साम्राज्ञी—।

सरमा—भगवान् की दया से सब अच्छा ही होगा; आप चिन्तित न हों। चलिए, स्नान कर आवें।

[दोनों जाती हैं]

आस्तीक—क्यों माणवक, आज तो तुम्हारे समस्त अपमान का बदला चुका गया ! क्या अब भी तुम इस दुखिया रानी को शुद्ध हृदय से क्षमा न करोगे।

माणवक—भाई ! मैं तो वपुष्टमा को कभी का क्षमा कर चुका। नहीं तो अब तक पकड़कर नागों के हाथ सौंप देता। माँ की आज्ञा मैं टाल नहीं सका। आस्तीक, यदि सच पूछो तो मैंने इस प्रतिहिंसा का आज से परित्याग कर दिया। देखो, इस तपोवन में शस्य श्यामल धरा और सुनील नभ का, जो एक दूसरे से इतने दूर हैं, कैसा सम्मिलन है !

आस्तीक—भाई, यह भगवान् वादरायण का आश्रम है। देखा, यहाँ की लतावल्लरियों मे, पशु पक्षियों मे, तापस बालकों मे परस्पर कितना स्नेह है! ये सब हिलते डोलते और चलते फिरते हुए भी मानो गले से लगे हुए है। वहाँ के तृण को भी एक शान्ति का आश्वासन पुचकार रहा है। स्नेह का दुलार, स्वार्थ-त्याग का प्यार, सर्वत्र बिखर रहा है।

माणवक—भाई आस्तीक, बहुत दिन हुए, हमने और तुमने एक दूसरे को गले नही लगाया। आओ आज—।

आस्तीक—(गले लगकर) मेरे शैशवसहचर! वह विशुद्ध क्रीड़ा, वह बाल्यकाल का सुख, जीवन भर का पाथेय है। क्या वह कभी भूलने योग्य है? आज से हम तुम फिर वही पुराने मित्र और भाई हैं। जी चाहता है, एक बार फिर हाथ मिलाकर उसी तरह खेलें कूदें।

माणवक—भाई, क्या वह समय फिर आने को है? यदि मिल सके, तो मैं कह सकता हूँ कि उन दस वर्षों के लिये शेष नब्बे वर्षों का जीवन दे देना भी उपयुक्त है। क्या ही रमणीय स्मृति है।

आस्तीक—किन्तु भाई, हम लोगो का कुछ कर्तव्य भी है। दो भयंकर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमे शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।

माणवक—भाई, चिन्ता न करो। भगवान् की कृपा से तुम सफल होगे। प्रभु की बड़ी प्रभुता है।

[दोनों प्रार्थना करते हैं]

नाथ, स्नेह का लता सींच दो, शान्ति जलद वर्षा कर दो।
हिंसा धूल उड़ रही मोहन, सूखी क्यारी को भर दो॥
समता की घोषणा विश्व में, मन्द मेघ गर्जन कर दो।
हरी भरी हो सृष्टि तुम्हारी, करुणा का कटाक्ष कर दो॥

सातवाँ दृश्य

स्थान—कानन

[मनसा और वासुकि]

वासुकि—बहन, अब क्या करना होगा ? तक्षक वन्दी है। उनके साथ मणिमाला भी है। पहले के भयङ्कर यज्ञ में जो बात नहीं होने पाई थी, वही इस बार अनायास हो गई। अपनी मूर्खता से आज नागराज स्वयं पूर्णाहुति बनने गए।

मनसा—भाई, मुझसे क्या कहते हो! क्या मैं उस उत्तेजन की एक सामग्री नहीं हूँ ? हाय हाय! मैंने ही तो इस नाग जाति को भड़काया था। आज देख रहे हो, यहाँ कितने घायल पड़े है! जाति के अवशिष्ट थोड़े से लोगों में भी कितने ही बेकाम हो गए, और कितने ही जलाए गए। जान पड़ता है कि इस जाति के लिये प्रलय समीप है। इस परिणाम का उत्तरदायित्व मुझ पर है। हा, मैंने यह क्या किया!

[कुछ नागों का प्रवेश]

नाग—नागमाता! आपकी कृपा और सेवा शुश्रूषा से अब हम लोग इस योग्य हो गए हैं कि फिर युद्ध कर सकें। आज्ञा दीजिए, अब हम लोग क्या करें। सुना है, नागराज वन्दी हो गए हैं। पहले उनका उद्धार करना चाहिए।

मनसा—वत्सगण, अब और जन क्षय कराने की आवश्यकता नहीं है। वन्दी तक्षक को जनमेजय कभी का जला देता; किन्तु सुना है, उसकी रानी का पता नहीं है; इसलिये अभी कुछ नहीं हुआ।

नाग—तो क्या नागराज जलाए जायँ, और हम लोग यहाँ पड़े पड़े आनन्द करें! धिक्कार है!

मनसा—वत्स, उत्तेजित न हो।

वासुकि—नहीं मनसा, अब मत रोको अब इस भग्न गृह को बचा रखने से क्या लाभ? इसे गिर जाने दो। दो चार ठूँठ वृक्षों पर इतनी ममता क्यों? इन्हें सूख जाने दो। जब हरा भरा कानन जल गया, तब इन्हें भी जल जाने दो। चलो वीरो, जो लोग युद्ध के योग्य हैं, वे सब एक बार निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठें। यदि औरों को न जला सकेंगे, तो स्वयं ही जल जायँगे। सारी कथा ही समाप्त हो जायगी।

नाग—हम प्रस्तुत हैं।

वासुकि—तो फिर चलो।

मनसा—क्यों भाई, क्या तुम मेरी बात न सुनोगे?

वासुकि—बहन, तुम्हारी बात सुनने के कारण ही आज तक यह सब हुआ। अब तुम्हारे हृदय में स्त्री सुलभ करुणा का उद्रेक हुआ है; इसीलिये तुम मुझे दूसरी ओर फेरना चाहती हो। यही तो स्त्रियों की बात है। एक भयानक क्रूरता को ठोकर मारकर जगा चुकी हो; और अब फिर उसे थपकी देकर सुला

देना चाहती हो ! पर अब यह बात नहीं होने की ! मरण के डर से मैं कलङ्कित जीवन बचाने का दुस्साहस न करूँगा ।

मनसा—भाई, तुम्हारी मनसा तुमसे क्षमा चाहती है । जाति-नाश कराने का कलङ्क उसके सिर पर न लगने दो ।

वासुकि—अब कोई उपाय नहीं है ।

मनसा—(कुछ सोच कर) अच्छा, तुम अवशिष्ट सैनिकों को साथ लेकर चलो । मैं भी चलती हूँ । यदि सन्धि करा सकी, तब तो ठीक ही है; नहीं तो हम सब लोग जल मरेंगे ?

वासुकि—(हँस कर) अभी इतनी आशा है ?

मनसा—एक बार आर्यों के महर्षि बादरायण के पास जाऊँगी । सुना है; उनकी महिमा अपूर्व है । सम्भव है, उनसे मिलकर कुछ काम कर सकूँ ।

नाग—अच्छी बात है । एक बार और चेष्टा कर देखिए । हम लोग पूर्णाहुति के लिये प्रस्तुत होकर चलते हैं । किन्तु स्मरण रहे, जिस स्वतन्त्रता के लिये इतना रक्त बहाया गया है, वह स्वतन्त्रता हाथ से जाने न पावे ।

मनसा—विश्वास रखो, मनसा कभी अपमानजनक सन्धि का प्रस्ताव न करेगी । नागबाला को भी मरना आता है ।

सब नाग—जय, नागमाता की जय !

———

आठवाँ दृश्य

स्थान—यज्ञ-शाला

[बन्दी तक्षक, मणिमाला, जनमेजय, शौनक, उतङ्क, सोमश्रवा, चण्ड भार्गव, आदि]

जनमेजय—इतनी नम्रता और आज्ञा पालन का यह परिणाम! इतनी प्रतिहिन्सा! प्रभुत्व का इतना लोभ! धन्य हो भूसुरो! तुमने अच्छा प्रतिशोध लिया।

ब्राह्मण—राजन्, लोभ और हठ से जो धर्म आचरित होता है, उसका ऐसा ही परिणाम हुआ करता है। इसमे इन्द्र ने बाधा डाली है।

जनमेजय—चुप रहो। तुम्हे लज्जा नहीं आती! ब्राह्मण होकर ऐसा गर्हित कार्य! शत्रु से मिलकर महिषी को छिपा देना! ये सब मुझे लज्जित करने के उपाय हैं। मैं अवश्य इसका प्रतिशोध लूँगा। क्रोध से मेरा हृदय जल रहा है। इसी अनल कुण्ड मे तुम सब की आहुति होगी!

सोमश्रवा—राजन, सुबुद्धि से सहायता लो। प्रमत्त न बनो। हो सकता है कि पदच्युत काश्यप का इसमे कुछ हाथ हो, किन्तु समस्त ब्राह्मणो को क्यों इसमें मिलाते हो?

जनमेजम—तुम लोगों को इसका प्रतिफल भोगना होगा। यह क्षात्र रक्त उबल रहा है। उपयुक्त दण्ड तो यही है कि तुम

सबको इसी यज्ञकुण्ड मे जला दूँ। किन्तु नही, मैं तुम लोगों को दूसरा दण्ड देता हूँ। जाओ, तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ। आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेध आदि यज्ञ नही करेगा। तुम सरीखे पुरोहितो की अब इस देश में आवश्यकता नही। जाओ, तुम सब निर्वासित हो।

सोमश्रवा—अच्छी बात है; तो जाता हूँ राजन्!

जनमेजय—हाँ हाँ! जाना ही पड़ेगा। सब को निकल जाना पड़ेगा। परन्तु उत्तङ्क! तुम्हारा एक काम अवशिष्ट है।

उत्तङ्क—वह क्या?

जनमेजय—स्मरण है, किसने मुझे इस कार्य्य के लिये उत्तेजित किया था।

उत्तङ्क—मैंने।

जनमेजय—उस दिन हमने कहा था कि 'अश्वमेध पीछे होगा, पहले नागयज्ञ होगा।' सम्भव है कि उस समय वह केवल एक साधारण सी बात रही हो। परन्तु आज वही काम होगा।

उत्तङ्क—राजन् वह तो हो चुका है। तक्षशिला विजय में कितने ही नाग जलाए जा चुके हैं।

जनमेजय—परन्तु हवन कुण्ड में नहीं! अश्वमेध की विधि चाहे जिसकी कही हो, नागयज्ञ आज सचमुच होगा; और वह भी मेरी बनाई हुई विधि से। सोमश्रवा से पूछो कि वे इसके आचार्य्य होगे या नहीं।

सोमश्रवा—जब सब ब्राह्मण निर्वासित हैं, तब मैं ही क्यों यहाँ रहूँगा! और शास्त्र के विरुद्ध कोई नया नियम बनाने की मुझ में सामर्थ्य नहीं है। नर बलि का यह घातक कार्य्य मुझ से न हो सकेगा!

उत्तङ्क—सोमश्रवा, बलि से आज हिचकते हो?

जनमेजय—तक्षक ने आज तक इस राजकुल के साथ जितने दुर्व्यवहार किए हैं, उनका स्मरण होगा मन्त्र; और उसके सामने उसके कुटुम्ब की आहुतियाँ होंगी।

उत्तङ्क—और पूर्णाहुति में तक्षक।

जनमेजय—ठीक है, ब्रह्मचारी।

शीला—बहन मणिमाला, मैं तुम्हारे साथ हूँ। यदि तुम्हें जलावेंगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ जलूँगी।

सोमश्रवा—अच्छा होगा। ब्राह्मण निर्वासित और ब्राह्मणी की आहुति! सम्राट्! विचार से काम कीजिए। ऐसा न हो कि दण्डनीय के साथ निरपराध भी पिस जायँ।

जनमेजय—उत्तङ्क, कुछ मत सुनो! घृत डालकर वह्नि प्रज्वलित करो। (अनुचरों से एक एक करके नागों को इसी में डालो। आज मैं क्षत्रियों के उपयुक्त ऐसा यज्ञ करूँगा, जैसा आज तक किसी ने न किया होगा और न कोई कर सकेगा। इस नाग-यज्ञ से अश्वमेधों का अन्त होगा। विलम्ब न करो। जिसको जाना हो, चला जाय।

[उत्तङ्क अग्नि में घी डालता है। अनुचर नागों को लाकर उसमें डालते हैं। क्रन्दन और हाहाकार होता है।]

तक्षक—क्षत्रिय सम्राट् ! क्रूरता में तुम किसी से कम नहीं हो।

जनमेजय—यही तो मैं तुम से कहलना चाहता था। अब तुम्हारी बारी है।

[वेद और दामिनी का प्रवेश]

वेद—आयुष्मन् उत्तङ्क !

उत्तङ्क—गुरुदेव, प्रणाम।

वेद—उत्तङ्क, उत्तेजित होकर प्रतिक्रिया करने की भी कोई सीमा होती है।

उत्तङ्क—भगवन्, यह तो मेरा कर्तव्य है। कृपया इसमें बाधा न दीजिए।

दामिनी—उत्तङ्क ! हृदय के अतिवाद से वशीभूत होने का मुझसे बढ़कर और कोई उदाहरण न मिलेगा। तुम कुछ मस्तिष्क से काम लो।

उत्तङ्क—तुम मेरी गुरुपत्नी ! आश्चर्य !

दामिनी—उत्तङ्क, मैं क्षमा चाहती हूँ। आर्यपुत्र ने मुझे क्षमा कर दिया है। तुम भी अब पिछली बातें भूल जाओ और क्षमा कर दो।

उत्तङ्क—गुरुदेव समर्थ हैं; पर मुझ में हृदय है।

दामिनी—हृदय है ! तब तो तुम उसकी दुर्बलता से और भी भलीभाँति परिचित होगे !

उत्तङ्क—समझ गया। यह मेरा दम्भ था। मैं भी क्या स्वप्न देख रहा था!

[बैठ जाता है]

जनमेजय—(अनुचरों से) इन अभिनयों से काम न चलेगा। जलाओ दुष्ट तक्षक को।

[अनुचर तक्षक वासुकि आदि को जलाना चाहते हैं। इतने में व्यास के साथ सरमा, मनसा, माणवक और आस्तीक का प्रवेश।]

व्यास—ठहरो! ठहरो!

जनमेजय—भगवन्, यह पारीक्षित जनमेजय आपके चरणों मे प्रणाम करता है।

आस्तीक—मेरा प्रतिफल! मेरा न्याय!

जनमेजय—तुम कौन हो?

आस्तीक—जिस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करने के लिये तुमने अश्वमेध किया है, मैं उसी ब्रह्महत्या की क्षति पूर्ति चाहता हूँ। मैं उन्ही जरत्कारु ऋषि का पुत्र हूँ, जिनकी तुमने बाण चलाकर हत्या की थी।

जनमेजय—आश्चर्य! कुमार! तुम्हारा मुखमण्डल तो बड़ा सरल है; फिर भी वह क्या कह रहा है! मैं किस लोक में हूँ!

व्यास—सम्राट्, तुम्हे न्याय करना होगा। यह बालक अपने पिता की हत्या की क्षति पूर्ति चाहता है। आर्य न्यायाधिकरण के समक्ष यह बालक तुम पर अभियोग न लगाकर केवल क्षति पूर्ति चाहता है। क्या तुम इसे भी अस्वीकृत करोगे?

जनमेजय—मुझे स्वीकार है भगवन्! आस्तीक, तुम क्या चाहते हो? क्या मैं अपना रक्त तुम्हें दूँ?

आस्तीक—नहीं, मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए। सम्राट्, शान्ति की घोषणा करके वन्दी नागराज को छोड़ दीजिए। यही मेरे लिये यथेष्ट प्रतिफल होगा।

जनमेजय—(सिर झुकाकर) अच्छी बात है; वही हो। छोड़ दो तक्षक को।

व्यास—धन्य है क्षमाशील ब्रह्मवीर्य! ऋषिकुमार, तुम्हारे पिता को धन्य है।

[लोग तक्षक को छोड़ देते हैं। वासुकि से सरमा का मिलन।]

सरमा—महाराज, मेरा भी एक विचार है। आप उसका न्याय कीजिए।

जनमेजय—कौन? यादवी सरमा!

सरमा—हाँ, मैं ही हूँ सम्राट्!

जनमेजय—तुम्हारे लड़के को मेरे भाइयों ने पीटा था? तुम क्या चाहती हो?

सरमा—जब आप स्वीकार करते हैं, तब मुझे कुछ न चाहिए। आर्य सम्राट्! मुझे केवल एक वस्तु दीजिए; और परिवर्तन में मुझसे कुछ लीजिए भी।

जनमेजय—क्या प्रतिदान!

सरमा—हाँ, सम्राट्!

जनमेजय—वह क्या?

सरमा—इस नागबाला मणिमाला को आप अपनी वधू बनाइए।

[जनमेजय सिर नीचा कर लेता है]

व्यास—किन्तु सरमा, यह तुम अनधिकार चर्चा करती हो। पहले वपुष्टमा को बुलाओ; वे स्वीकृति दें।

सरमा—यही हो। [जाकर वपुष्टमा को ले आती है]

वपुष्टमा—आर्यपुत्र की जय हो!

जनमेजय—षड्यन्त्र! यह कभी न होगा! भला धर्षिता स्त्री को कौन ग्रहण करेगा!

व्यास—सम्राट्, तुम्हीं करोगे! जब पुरुषों ने स्त्रियों की रक्षा का भार लिया है, और उनको केवल अपनी सीमा में स्वतन्त्रता मिली है, तब यदि उनकी अरक्षित अवस्था में उन पर अत्याचार होगा, तो उसका अपराध उनके रक्षकों के सिर होगा। क्या अबला होने के कारण यही सब ओर से अपराधिनी है? नहीं, मैं कह सकता हूँ कि यह पवित्र है; कमलवन से निकले हुए प्रभात के मलय पवन के समान शुद्ध है। इसे स्वीकार करना होगा। वपुष्टमा, आगे बढ़ो।

वपुष्टमा—नाथ! दासी श्रीचरणों की शपथ करके कहती है कि यह पवित्र है। [पैर पकड़ती है]

जनमेजय—(व्यास की ओर देखकर) उठो महिषी, उठो।

[उठाता है]

वपुष्टमा—आर्यपुत्र! सरमा देवी की बात माननी ही पड़ेगी। आओ बहन मणिमाला।

सरमा—मणिमाला, तुम सौभाग्यवती हो। इस अवसर पर तुम्हीं प्रेमशृङ्खला बनकर इन दोनो क्रुद्ध जातियों को प्रेम सूत्र में बाँध दो।

शीला—बहन मणि ! आज मेरी वह भविष्यद् वाणी सफल हुई। भला कौन जानता था कि तपोवन में अङ्कुरित, केवल एक दृष्टि मे वर्धित तथा पल्लवित क्षुद्र प्रेमाङ्कुर एक दिन इतना महान् फल देगा !

[रानी मणिमाला के हाथ बन्धन मुक्त करके जनमेजय को पकड़ा देती है]

वपुष्टमा—यह निर्मल कुसुम तुम्हारे समस्त सन्ताप का हरण करके मस्तक को शीतल करे।

[मणिमाला लज्जित होती है]

मनसा—आर्य सम्राट् ! मेरा समस्त विद्वेष तिरोहित हो गया। मैं चाहती हूँ, आज से नाग जाति विद्वेष भूलकर आर्यों से मित्र भाव का व्यवहार करे; और आर्यगण भी उन्हे अनार्य और अपने से बहुत दूर न मानें। मैं आस्तीक के नाम पर प्रतिज्ञा करती हूँ कि आज से कोई नाग कभी आर्यों के प्रति विद्रोह का आचरण न करेगा।

व्यास—जब राज कुल ही सम्बन्ध सूत्र मे बँध गया, तब भिन्नता कैसी ! इस प्रचण्ड वीर जाति के क्षत्रिय होने मे क्या सन्देह है !

जनमेजय—ऐसा ही होगा।

सब—जय, नागमाता की जय !

व्यास—ब्रह्म मण्डली, तुम भी पुरानी बातो को विस्मृत करके अपने सम्राट् को क्षमा करो !

जनमेजय—भगवन्! मेरा अपराध क्या है, यह तो मुझे विदित हो जाय।

व्यास—इस षड्यन्त्र का मूल काश्यप उपयुक्त दण्ड पा चुका। यज्ञशाला के विप्लव में से भागते समय किसी नाग ने उसकी हत्या कर डाली। सम्राट्, इन ब्राह्मणो ने तुम्हारा कोई अपराध नही किया है। इनकी क्षमा शीलता तो देखो! तुमने अकारण इन्हें निर्वासन की आज्ञा दी; पर फिर भी इन्होंने शाप तक न दिया। तपस्वी ब्राह्मणो, तुम लोग धन्य हो! तुमने ब्राह्मणत्व का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिखलाया है।

जनमेजय—भगवान् की जैसी आज्ञा। (सब ब्राह्मणों से) आप लोग मुझे क्षमा कीजिए।

शौनक—सम्राट्, तुम सदैव क्षम्य हो; क्योंकि तुम्हारे सुशासन से हम आरण्यक लोग शान्तिपूर्वक अपना स्वाध्याय करते है। क्या तुम्हारा एक भी अपराध हम सहन नहीं कर सकते? सहनशाल होना ही तो तपोधन और उत्तम ब्राह्मण का लक्षण है। किन्तु मानूँगा, व्यासदेव, तुम्हारी ज्ञान गरिमा को, तुम्हारी वृत्ति को, तुम्हारी शान्ति को मानूँगा। आज तक अवश्य कुछ ब्राह्मण तुम्हे दूसरी दृष्टि से देखते थे; किन्तु नही, तुम सर्वथा स्तुत्य और वन्दनीय हो। तुम्हारा अगाध पाण्डित्य ब्राह्मणत्व के योग्य ही है।

व्यास—साम्राट्, तुमने मुझसे एक दिन पूछा था कि क्या भविष्य है। देखा नियति का चक्र! यह ब्रह्म चक्र आप ही अपना कार्य करता रहता है। मैंने कहा था कि यज्ञ में विघ्न होगा।

फिर भी तुमने यज्ञ किया ही। किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम विकास है। यज्ञो का कार्य हो चुका। बालक सृष्टि खेल कर चुकी। अब परिवर्तन के लिये यह काण्ड उपस्थित हुआ है। अब सृष्टि को धर्म कार्यों मे विडम्बना की आवश्यकता नहीं। सरस्वती और यमुना के तट पर शुद्ध और समीप ले जाने वाले उपनिषद् और आरण्यक सम्वाद हो रहे है। इन्हीं माहात्मा ब्राह्मणो की विशुद्ध ज्ञान धारा से यह पृथ्वी अनन्त काल तक सिन्चित होगी; लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी; लोक मे कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा। सब लोग सुखपूर्वक रहेंगे।

सब—भगवान् की वाणी सत्य हो।

व्यास—विश्वात्मा का उत्थान हो। प्रत्येक हृत्तन्त्री मे पवित्र पुण्य के सामगान की मीड़े लहरा उठें।

[नेपथ्य में गान]

जय हो उसकी, जिसने अपना विश्व रूप विस्तार किया।
आकर्षण का प्रेम नाम से सब में सरल प्रचार किया॥

जल, थल, नभ का कुहक बन गया जो अपनी ही लीला से।
प्रेमानन्द पूर्ण गोलक को निराधार आधार दिया॥

हम सब में जो खेल कर रहा अति सुन्दर परछाई सा।
आप छिप गया आकर हममें, फिर हमको आकार दिया॥

पूर्णानुभव कराता है जो 'अहमिति' से निज सत्ता का।
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणव मध्य गुञ्जार किया॥

[यवनिका पतन]